अध्यात्म मार्ग

अध्यात्म मार्ग

रवीन्द्र नाथ

प्रकाशक - ए. के. सक्सेना

10, राधारघुवर भवन

अवधपुरी, कानपुर – 208 024

वर्ष - 2006

प्रथम संस्करण

वर्ष - 2019

Digital Edition (19h16)

सर्वाधिकार सुरक्षित

ज़नाब किब्ला फ़ज़्ल अहमद खान साहब
नक्शबंदिया मुज़द्दिदया मज़हरिया रायपुरी
कायमगंज, जिला फरूर्खाबाद (यू०पी०)

तथा

ज़नाब किब्ला अब्दुल गनी खान साहिब
नक्शबंदिया मुज़द्दिदया मज़हरिया
भौगाँव, जिला मैनपुरी (यू०पी०)

की

पावन स्मृति को

समर्पित

जिनकी कृपा ने शाश्वत सत्य के यात्रा के मार्ग को आलोकित किया

अनुक्रमणिका

प्रस्तावना

प्रथम खंड

प्रथम अध्याय - साधना (गुरु प्रेम) का महत्व 20

- भौतिक जगत में
- असुरक्षा की भावना
- मृत्यु का भय
- अपने आप को जानो
- दुखों का मूल कारण
- अपने वास्तविक स्वरूप का खो जाना
- शंकराचार्य का मत
- तीन प्रकार के मनुष्य
- साहसिक निर्णय की आवश्यकता

द्वितीय अध्याय - साधना में गुरु का स्थान 26

- उपासना के साधन
- मूल मंत्र
- गुरु चिन्तन
- ध्यान को केन्द्रित करने का स्थान
- हृदय क्षेत्र की महत्ता
- मन का न लगना
- ध्यान के विषय में आवश्यक बातें
- शब्द एवं प्रकाश ध्यान अंतिम लक्ष्य नहीं
- कुछ भ्रान्तियाँ

- प्रेम साधना
- इरीना ट्वीडी
- गुरु स्थूल जगत एवं ईश्वर के बीच कड़ी
- गुरुओं की श्रेणियाँ व उनके कार्य

तृतीय अध्याय - शिष्यों की श्रेणियाँ 39

- मुरीद इब्तदाई
- मुरीद सादिक
- मुरीद फिदाई
- शिष्यों के कर्तव्य
- शिष्टाचार का महत्व
- शिष्य का अंतिम लक्ष्य

चतुर्थ अध्याय - कौन सा मार्ग उपयुक्त है? 45

- कर्मकांड
- उपासना या भक्तिमार्ग
- ज्ञान मार्ग
- प्रेम मार्ग
- आन्तरिक साधना का महत्व
- आन्तरिक हृदय (क़ल्ब)
- वाह्य हृदय (नफ़्स)
- जज़्ब
- सुलूक
- प्रारम्भिक साधना सम्बन्धी कुछ हिदायतें
- प्रत्येक कोश की भिन्न साधना

- उपासना में जप का महत्व
- कंठ व हृदय से किये गये जाप
- ओम् का जाप
- प्रणव उपासना
- महात्मा रामचन्द्र जी द्वारा बतायी गई जाप की विधि
- जिक्र जली व जिक्र ख़फी
- आत्म निवेदन

पंचम अध्याय - आत्मा पर पंचकोशों का आवरण 58

- सृष्टि रचना से पहले परम ब्रह्म की स्थिति
- शब्द ब्रह्म
- सुरति की धार
- पिंड शरीर
- सुरति, शब्द योग
- आनन्दमय कोष
- विज्ञानमय कोश
- उल्टी समझ
- मनोमय कोश
- प्राणमय कोश
- अन्नमय कोश
- प्रत्येक कोश के साधन भिन्न भिन्न
- चच्चा जी महाराज द्वारा बताये गये साधन
- सूफी संतों के निगाह दास्त व बाजगस्त साधन
- पंच आत्मायें

- सारे कोश माया के ही फैलाव

षष्ठम अध्याय - ईश्वर दर्शन का रहस्य 66

- आत्मा पर पंचकोशों का आवरण
- ब्रह्म ही ब्रह्म का दर्शन करता है
- दर्शन के स्वरूप सम्बन्धी भ्रम
- निराकार व साकार उपासक
- मनोमय कोश का दर्शन
- विज्ञानमय कोश का दर्शन
- तत्त्वमसि व अहं ब्रह्मास्मि की अवस्थायें
- आनन्दमय कोश का दर्शन
- शरीर का बन्धन रहते माया से परे का दर्शन सम्भव नहीं
- महात्मा रामचन्द्र जी की व्याख्या
- ईश्वर दर्शन का अर्थ केवल उसकी उपस्थित एवं शक्ति का एहसास
- ईश्वर दर्शन प्राप्त व्यक्ति के लक्षण

सप्तम अध्याय - गुरु ध्यान ही क्यों? 72

- गुरु से भिन्न ईश्वर का अलग ध्यान
- गुरु ध्यान सम्बन्धित कुछ हिदायतें
- मार्ग की बाधाएँ
- ध्यान कैसे किया जाय
- गहरे पानी पैठ

द्वितीय खंड

अष्टम अध्याय - शाश्वत सत्य क्या है? 82

- सूफी संत फराहउद्दीन अत्तार साहब द्वारा लिखित चिड़ियों का सम्मेलन

- खोज, प्रेम, ज्ञान, वैराग्य और एकत्व की पांच घाटियाँ
- भ्रम व आश्चर्य तथा अहंकार के भयंकर रेगिस्तान
- अपने स्वयं की खोज में ईश्वर दर्शन व ईश्वर की खोज में अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान
- शाश्वत सत्य का ज्ञान एक व्यक्तिगत अनुभव
- जागो तस्फ़िया क़ल्ब
- अपना प्रयत्न पर्याप्त नहीं
- सूफ़ी संत के लक्षण

नवम अध्याय - बुजुर्ग संतों का जीवन वृत्तांत एवं आध्यात्मिक संसार में प्रवेश 90

- महात्मा रामचन्द्र जी फतेहगढ़ के लाला जी साहब) महात्मा रघुबर दयाल जी चच्चा जी महाराज) व महात्मा राधामोहन लाल जी (मुंशी भाई साहब) की आध्यात्मिक शिक्षा व दीक्षा
- मौलवी फज़्ल अहमद साहब द्वारा दी गई हिदायतें।
- जीवन वृत्तान्त – लाला जी महाराज व चच्चा जी महाराज
- गुरु मिलन
- अध्यात्मिक जीवन
- महात्मा राधा मोहन लाल जी
- गुरु सम्पर्क

दशम अध्याय - चच्चा जी महाराज द्वारा अध्यात्म मार्ग की व्याख्या 118

- तीन प्रार्थनाएँ
- मेरा मन गुरु चरणों में लगा रहे
- हे परमात्मा तेरी इच्छा पूरी हो
- ऐसी शक्ति व सहनशीलता दे कि मैं तेरे रास्ते पर चल सकूँ

- मृत्यु और ईश्वर की याद बनी रहे
- निर्लिप्त जीवन
- ईश्वर की सच्ची सेवा मानव जाति की सेवा
- देवर्षि नारद प्रकृति या माया क्या है?
- कहानी में छिपा अध्यात्म रहस्य
- चच्चा जी महाराज द्वारा दिये गये कुछ प्रमुख उपदेश

एकादश अध्याय - 1958 का बसंत भंडारा प्रवचन और सूफी नक्शबंदिया दर्शन का विश्लेषण द्वारा महात्मा राधामोहन लाल जी 134

खण्ड 1

- स्मृति

खण्ड 2

- सर्वोच्च आध्यात्मिक मार्ग (सिलसिला आलिया)
- आध्यात्मिक हृदय
- आलम-ए-बाला
- आलम-ए-नासूत
- तस्फ़िया क़ल्ब
- तज़किया नफ़्स
- जज़्ब व सुलूक

खण्ड - 3

- सतगुरु (पीर दस्तगीर मुर्शिद-ए-कामिल)
- तीन श्रेणियाँ

  मुखतियार - माजून - मगलूब

खण्ड - 4

- सतगुरु के लक्षण

खण्ड - 5

- मार्ग की तीन पद्धतियाँ
  - (अ) जिक्र-ए-खफ़ी
  - (ब) रास्ता-बा-शेख
  - (स) सोहबत मुर्शिद-ए-कामिल

खण्ड - 6

- ईश्वर प्रेम में डूबने के बाद

खण्ड - 7

- शिष्य के कर्त्तव्य

खण्ड - 8

- तीन अध्यात्मिक अवस्थाएँ
  - (अ) विलायत-ए-सुगरा (परमात्मा की याद)
  - (ब) विलायत-ए-किबरा (ईश्वर का साक्षात्कार)
  - (स) विलायत-ए-उल्लिया (ईश्वर दर्शन)

खण्ड - 9

- उपसंहार

बारहवाँ अध्याय - आध्यात्मिक शिक्षा की विधि 163

तेरहवाँ अध्याय - सूफी दर्शन की विशेषतायें 183

चौदहवाँ अध्याय - अंतिम पृष्ठ 197

पुस्तक 'अध्यात्म मार्ग' की विषय सामग्री का चयन फतेहगढ़ के महात्मा रामचन्द्र जी महाराज (लाला जी साहब), उनके लघु भ्राता कानपुर के महात्मा रघुबरदयाल जी (चच्चाजी महाराज) एवं चच्चाजी महाराज के पुत्रों विशेष रूप से उनके मँझले पुत्र मेरे पूज्य पिता जी महात्मा राधामोहन लाल जी (मुंशी भाई साहब) के जीवन वृत्तान्त व उनके द्वारा सत्य पथ के पथिकों के लिये दिये गये आवश्यक उपदेशों व निर्देशों पर आधारित है। ये वे सूफी संत थे जिन्होंने कि परम चैतन्य सत्ता का साक्षात्कार किया और उस अनुभव के अनुसार ही अपना जीवन बिताकर दूसरों के समक्ष एक आदर्श प्रस्तुत किया। उन्होंने यह घोषणा कभी नहीं की कि बुद्धत्व को प्राप्त होने वाले वे प्रथम व्यक्ति थे। वे भिन्न-भिन्न काल खंडों में जन्मे शाश्वत सत्य का ज्ञान प्राप्त करने वाले उन महान संतों की श्रृंखला का केवल एक भाग थे। पुस्तक में महान सूफी सन्तों द्वारा व्यक्त विचारों व अध्यात्मिक शिक्षा प्रणाली को बहुत ही सरल भाषा में स्पष्ट किया गया है। सभी युगों में सत्य के मार्ग पर चलने वाले साधकों के समक्ष केवल एक ही प्रश्न रहा है कि मैं कौन हूँ और मेरे जीवन का क्या उद्देश्य है? इस विषय पर प्रकाश डाला गया है कि किस प्रकार माया के वशीभूत होकर हमने अपनी वास्तविक पहिचान खो दी है और अज्ञानवश अपने वास्तविक स्वरूप को भूल कर दुखों व अशान्ति को आमंत्रित किया है। शाश्वत आनन्द, साम्यावस्था व मानसिक शान्ति को फिर से पाने के लिये हमें अपने उस वास्तविक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करना होगा जिसे माया के परदे ने पूरी तरह से ढ़क लिया है। सन्तों का कहना है कि हमें एक ऐसे प्रबुद्ध आत्मा (Enlightened Soul) को खोजना होगा जो अपने प्रेम रस में डुबोकर अज्ञान की गहरी नींद से हमें जगा दे। ऐसे साधकों के लिये आवश्यक हिदायतें दी गयी हैं जो अपनी व्यक्तिगत आत्मा (Individual Consciousness) को उस परम चैतन्य सत्ता (Universal Consciousness) में लय कर जीवन मुक्त बनने की दिशा में प्रयत्न कर रहे हों। इस विषय में कोई भ्रम व संशय नहीं होना चाहिये कि साधना के उच्च स्तरों पर

बिना गुरु की दया व कृपा के नहीं पहुंचा जा सकता है। समर्थ गुरु का मिलना जन्म-जन्मान्तर के पुण्यों का फल होता है।

पुस्तक के प्रथम खण्ड में बुजुर्ग संतों की जीवनी, उनके कुछ उपदेश, अध्यात्म विद्या का प्रारम्भिक ज्ञान, साधना का महत्व, गुरु शिष्य के सम्बन्ध, मार्ग की बाधाएँ आदि पर प्रकाश डाला गया है।

द्वितीय खंड में चच्चाजी महाराज के समाधि स्थल पर वर्ष 1958 में वार्षिक बसंत भंडारे के सुअवसर पर महात्मा राधामोहन लाल जी द्वारा सूफी विचार धारा से सम्बन्धित प्रवचन व उसकी विस्तृत विवेचना है। इस सम्बन्ध में मैंने तमाम उपलब्ध साहित्य एवं इन बुजुर्ग संतों के शिष्यों द्वारा लिखे गये संस्मरणों एवं पुस्तकों का भी अवलोकन किया है। परन्तु पुस्तक का मुख्य आधार इन संतों द्वारा लिखे गये पत्र व हस्तलिखित पांडुलिपियाँ (अभी तक अप्रकाशित) है जो कि मेरे परिवार द्वारा इतना समय बीतने के बावजूद भी सुरक्षित रखी गयी हैं।

प्रस्तावना

अध्यात्म ज्ञान के विषय में फैली हुई तमाम भ्रान्तियों का मुख्य कारण अज्ञान व इसके वास्तविक स्वरूप की सही जानकारी का अभाव है। सर्वसाधारण की दृष्टि से इसका अर्थ कठिन शारीरिक तपस्या करना, कठोर नियमों व व्रतों का पालन करना व जंगलों या हिमालय की गुफाओं में एकान्त व एकाकी जीवन का बिताना है। कुछ भौतिकवादी विचारक तो इसे पलायनवाद से जोड़ कर देखते हैं। इस प्रकार की गलत धारणायें व व्याख्यायें हमारे प्राचीन अन्यों के अधकचरे व सतहे अध्ययन व संकीर्ण मनोवृत्ति की उपज है। प्राचीन भारत में ऋषि-मुनियों ने पारिवारिक जीवन बिताया और निर्लिप्त व निष्काम भाव से सांसारिक पदार्थों का आनन्द उठाया। विश्वामित्र, महर्षि वशिष्ठ, याज्ञवलक्य, बाल्मीकी तथा संतों में कबीर, मीरा, रामकृष्ण परमहंस आदि के नाम लिये जा सकते हैं। सच्चा अध्यात्म ज्ञान एक विज्ञान है जो कि हमें यह सिखाता है कि हम किस प्रकार विपरीत परिस्थितियों में भी मानसिक सन्तुलन व समरसता बनाये रक्खें, कैसे हम अपने सांसारिक कर्तव्यों व उत्तरदायित्वों का पालन करते हुए ईश्वर के प्रति कृतज्ञ बने रहें, कैसे हम संसार के सुख व समृद्धि का निर्लिप्त भाव से भोग करे, किस प्रकार हम अपने अहँ को नष्ट कर (तज़किया नफ़्स) व हृदय को पवित्र बनाकर (तस्फ़िया क़ल्ब) अपनी व्यक्तिगत चेतना (Individual Consciousness) को उस परम चैतन्य व शाश्वत विश्व चेतना (Universal Consciousness) से सामंजस्य की स्थिति में ला सके। सच्चा ज्ञान संकीर्णता व विकृत मनोवृत्ति से ऊपर होने के नाते विश्व भ्रातृत्व व विश्व शान्ति को प्रोत्साहित करता है। एक ऐसे समर्थ गुरु जो स्वयं भी बुद्धत्व को उपलब्ध हो चुका हो, के मार्ग वर्ष निर्देशन में इन उद्देश्यों को सरलता से हासिल किया जा सकता है।

इन पृष्ठों के माध्यम से मैंने बीसवीं शताब्दी के सूफी एवं सन्त मत के दो महान संतों एवं उनके पुत्रों के व्यक्तित्व एवं उपदेशों से परिचय करा कर आपके

हृदय में प्रेम की उस अग्नि को, जो बुझ चुकी है, फिर से प्रज्वलित करने का एक विनम्र प्रयत्न किया है । ये संत हैं - फतेहगढ़ के महात्मा रामचन्द्र जी महाराज (लाला जी साहब) महात्मा रघुबर दयाल जी (चच्चा जी महाराज) और उनके मँझले पुत्र मेरे पूज्य पिता जी महात्मा राधा मोहन लाल जी तथा उनके अन्य दो पुत्र महात्मा बृजमोहन लाल जी एवं महात्मा ज्योतीन्द्र मोहनलाल जी भी इस सिलसिले के महान संत थे । आधुनिक भौतिकवादी युग में मनुष्य को अपने स्वार्थ के अतिरिक्त और कुछ भी सोचने का समय नहीं है । इन संतों ने अध्यात्म ज्ञान को आधुनिक मनुष्य की परिस्थितियों एवं उसके स्वभाव के अनुरूप ढ़ाल कर एक नया आयाम दिया है ताकि बिना किसी भेदभाव के सब इसका लाभ उठा सके । इन संतों का जीवन प्रेम, भक्ति, त्याग एवं परमात्मा के इच्छा से सामंजस्य स्थापित करने का आदर्श उदाहरण था ।

पुस्तक के द्वितीय भाग में मुख्य रूप से महात्मा राधा मोहन लाल जी के अध्यात्मिक अनुभव व उपदेश दिये गये हैं । सत्य सदैव अविभाजित है और शिखर पर पहुंचने वाले सभी संतों के अनुभव एक जैसे ही होते हैं । इन महान सूफी संतों के अनुभवों, उपदेशों व प्रवचनों में कोई अन्तर नहीं है । महात्मा राधामोहन लाल जी ने इन बुजुर्ग सन्तों के सूफी विचार व शिक्षा प्रणाली को ही स्पष्ट बनाने का प्रयत्न किया है ।

मेरे पूज्य पिता जी के विदेशी शिष्य बहुत समय से यह आग्रह कर रहे थे कि मैं उनके जीवन व उपदेशों के विषय में कुछ लिखूँ । पिछले (Living with the Eternal Truth) नामक पुस्तक अँग्रेज़ी में लिख कर इस आग्रह को पूरा कर दिया गया । हिन्दी में पुस्तक प्रकाशित करने का केवल यही उद्देश्य है कि अन्य सत्संगी भाई एवं नये जिज्ञासु भी इन संतों की शिक्षाओं को पढ़ कर इस मार्ग पर चलने के लिये प्रेरित हों ।

मैं अपने को बहुत सौभाग्यशाली समझूँगा यदि मेरे इस छोटे से प्रयत्न से पाठकों के हृदय में अपने अस्तित्व एवं अपने वास्तविक स्वरूप (True self) को जानने की इच्छा जाग जाये। सम्भव है वे किसी सतगुरु की खोज में लग सकें क्योंकि बगैर उनके मार्गदर्शन के इस मार्ग पर कोई आगे नहीं बढ़ सकता है।

पुस्तक की विषय सामग्री के चयन एवं लेखन में डा० पी० एन० गुप्ता द्वारा दिये गये बहुमूल्य योगदान का मैं कृतज्ञ हूँ। गुरु महाराज से मैं प्रार्थना करता हूँ कि उनकी कृपा व दया सदैव उन पर व उनके परिवार पर बनी रहे। डा० पी० एन० गुप्ता, डी० बी० एस० कालेज कानपुर में राजनीति विज्ञान के विभागाध्यक्ष रह चुके हैं व हमारे ही सिलसिले के टूँडलावासी पंडित मिही लाल जी के शिष्य हैं।

अन्त में मैं ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि हर व्यक्ति उसकी दया व कृपा का अधिकारी बने।

मार्ग का एक विनम्र सेवक
रवीन्द्र नाथ

10 एम० आई० जी०
राधा रघुवर भवन
अवधपुरी कानपुर - 208024
गुरु पूर्णिमा
11 जुलाई 2006

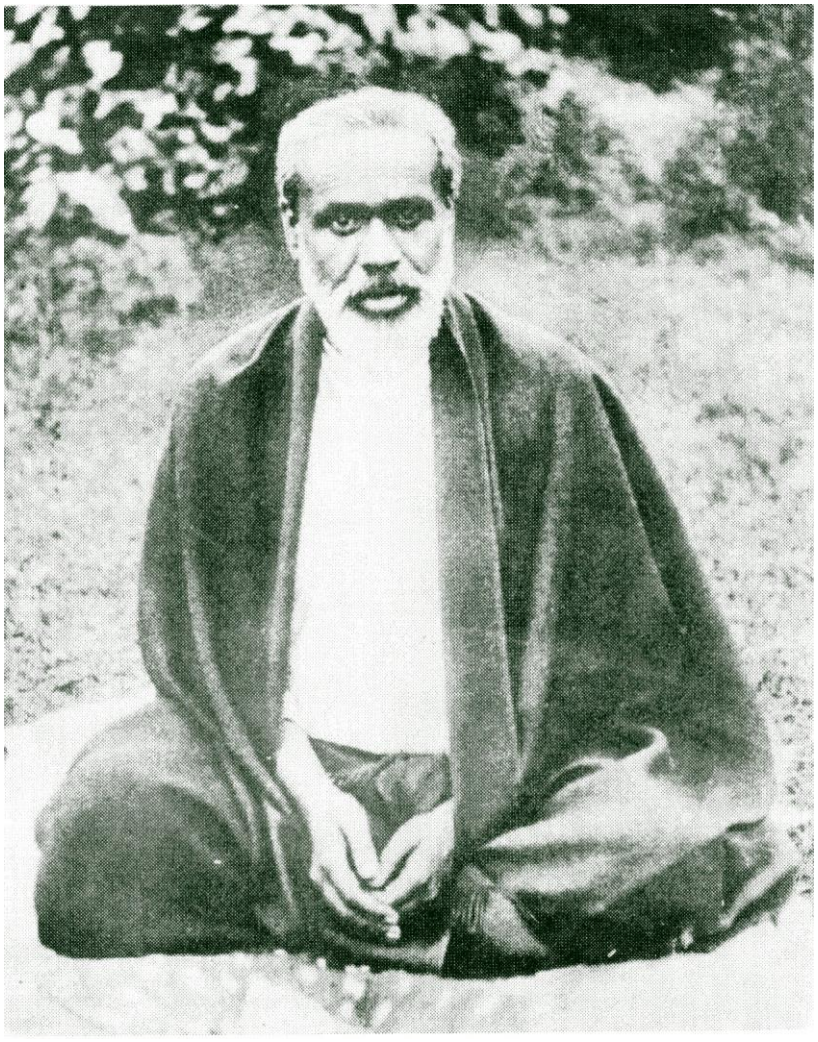

Mahatma Ram Chandra Ji Maharaj

Mahatma Raghubar Dayal Ji Maharaj

Mahatma Radha Mohan Lal Ji

प्रथम खण्ड

प्रथम अध्याय

साधना (गुरु प्रेम) का महत्व

भगवान बुद्ध ने अपने प्रवचनों में कभी भी ईश्वर, आत्मा व परमात्मा जैसे शब्दों का प्रयोग नहीं किया। ईश्वर मिलन या भगवत प्राप्ति की चर्चा नहीं की। वे जानते थे कि इस मायावी संसार में मनुष्य के लिये उस परम सत्य को जानना कितना कठिन है। जब तक मनुष्य इस संसार से सम्बन्धित कुछ सत्य एवं इसके वास्तविक चरित्र से परिचित नहीं हो जाता है, तब तक उस परम सत्ता को जानने का प्रश्न ही नहीं उठता है। उन्होंने कहा कि पहले उसे समझने का प्रयत्न करो जिसे तुम रोज प्रत्यक्ष देख रहे हो, भोग रहे हो, फिर भी अपने नेत्र बन्द किये हुए अपना जीवन बिता रहे हो। इस संसार का प्रथम सत्य है कि यहाँ का प्रत्येक पदार्थ, जड़ या चेतन नाशवान है। जिसने जन्म लिया है वह एक दिन अवश्य मृत्यु को प्राप्त होगा। कोई भी इस प्रक्रिया को रोक नहीं सकता। महाभारत में गाथा आई है कि यक्ष ने युधिष्ठर से प्रश्न पूछा कि इस संसार में सबसे आश्चर्य की क्या वस्तु है? उत्तर में उन्होने कहा कि हम रोज लोगों को मृत्यु के मुंह में जाते हुए देखते हैं फिर भी अपने को अमर समझते हैं।

इस संसार का दूसरा सत्य है कि हम सब दुखी हैं। धन, यश, मान-सम्मान, विद्या आदि के होते हुए भी संतुष्ट नहीं हैं। अमीर के दुख अलग हैं, गरीब के दुख अलग हैं। हमारी इच्छाओं व कामनाओं की कोई सीमा नहीं है। अतृप्त कामनाओं को लेकर ही हम मृत्यु का वरण करते हैं। काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि के वशीभूत होकर ही हमारा जीवन बीत रहा है। बाहर से हम भले ही प्रसन्न व संतुष्ट दिखाई दें परन्तु हमारे अचेतन मन (Sub-conscious mind) में एक अज्ञात भय समाया हुआ है। एक असुरक्षा की भावना (Sense of insecurity) हमें खाये जा रही है। हर समय हमारा मन अशान्त, चंचल एवं दुष्चिन्ताओं से घिरा रहता है। इस

आपाधापी एवं भाग दौड़ के जीवन में हम यह सोच ही नहीं पाते कि कैसे हमारा मन शान्त हो व हम तनाव रहित जीवन बितायें।

इस संसार का अगला सत्य है मृत्यु का भय। हर इन्सान के अचेतन मन में कहीं न कहीं यह भय समाया हुआ है। हम रोज गीता का पाठ करते हैं कि आत्मा अजर व अमर है। यह न तो शस्त्रों से कट सकती है और न ही इसे अग्नि में जलाया जा सकता है। लेकिन इसके पाठ से क्या हमारा मृत्यु का भय छूट सकता है। क्या हमें आत्मा की अमरता पर विश्वास हो पाता है। क्या हम अपने को शरीर से अलग मान सकते हैं। हमारा हाल उस तोते की तरह है जो सिखाने पर दिन भर राम-राम जपता है लेकिन जब बिल्ली उसके सामने आती है तो वह राम को भूल कर टें-टें ही बोलता है। मृत्यु की वेदना शारीरिक न होकर मानसिक है। जीवन भर मनुष्य नाते रिश्ते बनाता है, धन सम्पत्ति जोड़ता है परन्तु पल भर में सब कुछ छूट जाता है। कुछ भी साथ ले जाने को नहीं मिलता है।

क्या हमने कभी इस विषय पर चिन्तन किया है कि हम क्यों दुखी हैं, हमारे अन्दर असुरक्षा की भावना कैसे दूर की जा सकती है, हम मृत्यु के भय से कैसे मुक्त हो सकते हैं? एक आम आदमी इस विषय पर सोचता ही नहीं है। जब दुख पड़ा रो लिये व सुख में हँस लिये। इसी प्रकार सुख-दुख के सागर में गोते लगाते हुए, दुष्चिन्ताओं में जीते हुए हम अपना जीवन बिता देते हैं। समय-समय पर प्रत्येक धर्म में सन्त, पीर एवं अवतार पुरुष हमें सावधान करते रहते हैं कि सोचो और समझो, जानो और पहचानो कि तुम कौन हो? कहाँ से तुम्हारी उत्पत्ति हुई है, व तुम्हारे जीवन का क्या उद्देश्य है। क्या तुम यों ही पशुवत अपना जीवन बिताते रहोगे। तृष्णा व अज्ञान ही हमारे दुखों का कारण है।

आज के इस भोग वादी संस्कृति एवं भौतिक सुख साधनों से सम्पन्न इस संसार में लोगों को उस परम शक्ति (उसे हम किसी भी नाम से पुकारें) की उपयोगिता पर ही संदेह होने लगा है। प्रश्न ईश्वर की सत्ता में विश्वास या अविश्वास

का नहीं है। मुख्य प्रश्न अपने आपको पहचानने का है (To know myself) आप ईश्वर में विश्वास नहीं करना चाहते हैं, न करें। लेकिन अपने आप को पहिचानें तो कि आप है कौन! कम से कम अपने मन की अशान्ति एवं दुखों का कारण तो समझो। इस पृथ्वी पर सन्त, पीर, व अवतार पुरुष जन्म लेते रहते हैं। वे प्राणियों को उनके निज स्वरूप का ज्ञान कराते हैं व उनके रूहानी सफर पर मार्ग-दर्शन कराते हैं ताकि मनुष्य अपने मन को शान्त कर, तनाव रहित व दैवी आनन्द से अभिभूत होकर अपना जीवन बिताएँ। हमारे बुजुर्ग सन्त व पीर हमें यह बताते हैं कि हम किस प्रकार ईश्वर के दिये हुए सारे सुखों को मर्यादा पूर्वक भोगते हुये एवं अपने सांसारिक कर्तव्यों को करते हुये अपने निज स्वरूप एवं उस परम सत्ता का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

हमारे दुखों का मूल कारण है हमारी अपनी पहिचान का खो जाना। हम अपने मूल स्रोत अर्थात् परमात्मा से अलग हो गये हैं। तुलसीदास जी ने कहा है 'ईश्वर अंश जीव अविनाशी'। गीता में भी भगवान कृष्ण ने पन्द्रहवें अध्याय में अर्जुन को उपदेश देते हुए यही भाव प्रकट किया है – 'ममैंवांशो जीव लोके जीव भूतः सनातनः' अर्थात् इस देह में यह सनातन जीवात्मा प्रकृति और उसके कार्य के साथ अहँ और ममता पूर्वक अपना जितना सम्बन्ध बनाता है उतना ही वह बंधन में जकड़ता जाता है। कामना व आसक्ति उसे बर्हिमुखी बनाती है। संसार में सुख की इच्छा रखने वाले के लिये यह संसार दुखों का घर है। इच्छाओं की कभी तृप्ति नहीं होती है क्योंकि इनकी कोई सीमा नहीं है। सांसारिक सुखों की कामनाएँ ही हमें जन्म मरण के बन्धन से बाँधती हैं। किसी भी स्थान, वस्तु, व्यक्ति या परिस्थिति के प्रति मन में आकर्षण और उनकी प्राप्ति से अपने को सुखी मानना ही राग है और इनसे सुख दुख का अनुभव न करना ही वैराग्य है। मनुष्य अज्ञानवश शरीर, स्त्री, पुरुष, पुत्र, धन, मान-सम्मान व नाशवान वस्तुओं को अपना मान कर मोहग्रस्त होकर दुखी रहता है और आवागमन के चक्र में फंसा रहता है।

शुद्ध आत्मा के प्रकाश को हमारे जन्म जन्मान्तर के आसक्ति पूर्ण कर्मों व संस्कारों ने पूरी तरह ढ़क लिया है। हमारा हृदय मलिनता से भर गया है। हमारी आत्मा पर पंच कोषों का आवरण चढ़ चुका है ये हैं:- अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय व आनन्दमय कोष। इनका विस्तृत वर्णन यथा स्थान किया जायेगा। मल, विक्षेप व आवरणों के रहते हुए हम आत्मा के शुद्ध प्रकाशमय स्वरूप को नहीं देख पाते हैं। सार वस्तु यह है कि जब तक हम उस परम पिता परमेश्वर, जिसके कि हम अंश हैं, से नहीं जुड़ते तब तक हमें आनन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती और न ही हम जन्म मरण के बन्धन से मुक्त हो सकते हैं। इस नाशवान संसार से जुड़ कर हमें कुछ भी प्राप्त नहीं होना है।

जब मनुष्य अपने असली स्वरूप को पहिचान लेता है तभी वह इस भव सागर में निर्लिप्त व निष्काम भाव से रह सकता है। परमात्मा से जुड़ने का उसका प्रयास भी तभी सफल होगा। जिसने अपने हृदय की मलिनता को दूर कर अपने अन्तःकरण को शुद्ध कर लिया है; वही उस परम सत्ता की अनुभूति कर सकता है। जिन कर्मों से हम सांसारिक इच्छाओं की पूर्ति करते हैं, उन कर्मों से हम परमात्मा के सर्वव्यापी स्वरूप का अनुभव नहीं कर सकते हैं। कर्म की उत्पत्ति अहँ भाव से होती है जबकि ईश्वर दर्शन अहँ भाव के मिटने से सम्भव होता है।

शंकराचार्य ने लिखा है कि इस संसार में तीन वस्तुएँ बड़े भाग्य व जन्म जन्मान्तर के पुण्यों के फल से प्राप्त होती है:-

1) मनुष्य जन्म
2) मुमुक्ष बनना
3) किसी महापुरुष (सदगुरु) का आश्रय प्राप्त करना

1) **मनुष्य जन्म**:- मनुष्य इस पृथ्वी का सर्वश्रेष्ठ प्राणी है। कहते हैं कि चौरासी लाख योनियों को भोग कर मनुष्य जन्म प्राप्त होता है। ईश्वर ने उसे बुद्धि दी है

जिसके द्वारा वह अच्छाई व बुराई का विश्लेषण कर सकता है। बुद्धि के सही प्रयोग से उसके ज्ञान नेत्र खुल सकते हैं । वह अध्यात्मिक प्रक्रिया को समझकर उस मार्ग पर चल सकता है। पशुओं में बुद्धि तत्व के पूर्ण विकसित न होने से वे ईश्वर विषयक बातें व दैवी आनन्द को नहीं जान सकते हैं। पशु कभी अर्न्तमुखी नहीं हो सकता है जबकि मनुष्य के लिये यह सम्भव है। इसलिये प्रत्येक मनुष्य का यह कर्तव्य है कि वह अपनी बुद्धि को अहँकार व इन्द्रिय जनित सुखों से अलग रखकर व सुख-दुख के द्वन्द्व से ऊपर उठ कर इसी जन्म में ईश्वर प्राप्ति कर सकता है।

2) **मुमुक्ष बनाना**:- इसका अर्थ है अध्यात्म व ईश्वर आराधना के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न होना। संसार में ऐसे कितने लोग हैं जिन्हें अपने व ईश्वर को जानने की वास्तविक इच्छा होती है। हमारा सारा जीवन तर्क-कुतर्क में ही बीत जाता है और अंत तक हमें ईश्वर के अस्तित्व पर पूर्ण विश्वास नहीं हो पाता है। कुछ लोग रूहानी सफर पर चल तो देते हैं लेकिन रास्ते में भटक कर फिर दुनिया की ओर लौट आते हैं।

3) **किसी महापुरुष (सदगुरु) का आश्रय प्राप्त करना**:- मुमुक्ष बनने के बाद भी यदि हमें किसी महापुरुष का आश्रय नहीं प्राप्त हुआ तो यह निश्चित जानिये कि हमें रूहानी सफर में कामयाबी हासिल नहीं हो सकती है। सदगुरु का मिलना सबसे कठिन कार्य है यह ईश्वर की कृपा से ही सम्भव है। यह तभी सम्भव हो सकता है जब हमारे मन में ईश्वर ज्ञान की अदम्य लालसा हो जैसे जल में डूबते हुए मनुष्य को संसार का कोई ऐश्वर्य नहीं चाहिये। उसे तो केवल सांस लेने के लिए हवा चाहिए। जब मन में ऐसी तड़पन, तीव्र अभिलाषा व चाहना हो तभी ईश्वर दया करके नर रूप में गुरु बन कर हमारे सामने आता है। बिना सदगुरु के हम अपने प्रयत्नों से अपने निज स्वरूप का ज्ञान नहीं पा सकते हैं।

रामकृष्ण परमहंस ने संसार में तीन प्रकार के मनुष्यों का वर्णन किया है। बद्ध, मुमुक्ष और मुक्त, उन्होंने इसे मछली के उदाहरण से समझाया है। मछुए के जाल में फँसने वाली मछलियाँ तीन प्रकार की होती हैं। कुछ तो जैसी की तैसी पड़ी रहती है, जाल से निकलने का प्रयत्न ही नहीं करती। वे यह भी नहीं जानती कि उन पर कोई संकट आन पड़ा है। कुछ मछलियाँ भागने का प्रयत्न करती हैं, पर उन्हें निकलने का मार्ग नहीं मिल पाता है। पर एक आध बहादुर मछली ऐसी होती है जो जाल को काट कर निकल भागती है।

चूँकि हमने मनुष्य जन्म प्राप्त किया है और ईश्वर ने हमें सोचने के लिये बुद्धि दी है और अन्तर्मुखी सुखी होने की क्षमता दी है, इसलिये यह हमें निर्णय लेना है कि हम अपने को किस श्रेणी में रक्खें - बद्ध, मुमुक्ष या मुक्त। अभी भी समय है हम किसी सदगुरु की शरण में जा कर अपने भव बंधनों को काटकर अपने को मुक्त कर लें।

द्वितीय अध्याय

साधना में गुरु का स्थान

ईश्वर दर्शन अथवा आत्म-साक्षात्कार के जितने साधन प्रचलित हैं उनमें उपासना का साधन सब से सरल, कम समय लेने वाला व जल्दी फल देने वाला है। साधना का मूल मंत्र है अनेक से एक पर आना अर्थात् अपने मन को एक आधार पर केन्द्रित करना। उपासना में गुरु का स्थान प्रथम है। गुरु उपासना ही ईश्वर की उपासना है। गुरु चूँकि देखी भाली चैतन्य शक्ल है इसलिये उस पर ध्यान केन्द्रित करना आसान है। सूफी व सन्त मत दोनों इस विचार से सहमत हैं -

उपासना के तीन मुख्य साधन है:-

1) धारणा
2) ध्यान
3) प्रत्याहार

धारणा में हम किसी एक ध्येय को पकड़ कर मन को रोकते है। धारण में हम कर्त्ता रहते हैं। हमें अपना ज्ञान रहता है, अपने कर्म का ज्ञान रहता है और अपने ध्येय का ज्ञान रहता है। ध्यान की अवस्था वह है कि जब हम धारण करते-करते इतना होश खो बैठे कि ध्येय का भी ख्याल न रहे ध्याता और ध्येय दोनों गायब हो जाते हैं निरोध वह अवस्था है जहाँ पर ध्याता, ध्यान और ध्येय तीनों का कोई पता न हो। ध्यान करने से मन में दो अवस्थाओं का जन्म होता है। पहली एकाग्रता और दूसरी निरोध, पतंजलि का सूत्र है योगश्चित्त वृत्ति निरोधः। चित्त की वृत्तियों का निरोध होने पर ही हम ईश्वर दर्शन के मार्ग पर प्रगति कर सकते हैं। निरोध की अवस्था आने के पहले एकाग्रता का होना लाजिमी है जब तक चित्त एकाग्र नहीं होगा, वृत्तियों का निरोध असम्भव है। साधक को चाहिये कि अपने मन को प्रेम की

डोर से बाँध कर ध्यान द्वारा अपने लक्ष्य गुरु अर्थात परमात्मा में लगा दें। निरोध में मन व बुद्धि दोनों शून्य हो जाते हैं। मन में किसी भी प्रकार का कोई भाव, विचार, संस्कार या वृत्ति नहीं रह जाती है। मन एकदम खाली हो जाता है।

ध्यान के समय मन को किसी एक लक्ष्य पर टिकाना बड़ा मुश्किल होता है। वह बराबर इधर-उधर भागता ही रहता है। ऐसे में साधक उसे दुबारा खींच कर फिर उसी लक्ष्य पर लगाने का प्रयत्न करता है। इसी क्रिया को प्रत्याहार कहते हैं। जब मन किसी भी प्रकार स्थिर न हो रहा हो तो गुरु के सामने बैठ कर अभ्यास करने से मन स्थिर करने में सफलता मिलती है। कहते हैं 'वीतराग विषयं वा चित्तम्' अर्थात जीवन मुक्त संतों व महापुरुषों का ध्यान करने से मन में एकाग्रता आने लगती है। मन को एकाग्र करने का सबसे आसान व कारगर तरीका गुरु का चिन्तन है। गुरु की याद आते ही हमारी सुरति की धार फौरन गुरु से जुड़ जाती है।

साधकों के मन में एक भ्रम बना रहता है कि ध्यान कहाँ पर करना चाहिये आज्ञा चक्र पर या हृदय क्षेत्र पर या नाभि पर या आती जाती स्वास पर। इस विषय में इतना ही कहा जा सकता है कि जिस व्यक्ति का ध्यान जहाँ आसानी से लग सके उसके लिये वही जगह ठीक है क्योंकि हर मनुष्य के संस्कार, वैचारिक योग्यता व क्षमता अलग-अलग होती है। ध्यान का मकसद केवल चित्त को एकाग्र अवस्था में लाना है। आज्ञा चक्र पर ध्यान करने वालों को अहँ भाव व क्रोध से पीछा छुड़ाने में कुछ देर लगती है। जबकि हृदय क्षेत्र पर ध्यान करने वालों को इस कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ता है। गीता में कृष्ण ने हृदय क्षेत्र की गुहा में ही भगवान का निवास बतलाया है।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्राम यन्स सर्वभूतानां यन्त्रा रूढ़ानि मायया ॥

यों अपने गुरु द्वारा बतलायी गयी विधि से ही ध्यान करना श्रेष्ठ है।

ध्यान में मन न लगने की एक आम शिकायत है जो प्रायः नये व पुराने साधक करते रहते हैं। बात मन लगने की नहीं है, बात मन लगाने की है। हमारा मन धन में, पुत्र-पौत्रों में, पत्नी में तो खूब लगता है परन्तु गुरु अर्थात् ईश्वर या अपने इष्ट में नहीं लगता। सच्चाई यह है कि हम मन लगाना नहीं चाहते। हमारे लिये संसार महत्वपूर्ण है आत्म-दर्शन नहीं। हम चौबीस घंटों में आधा घंटा भी ईश्वर को नहीं देना चाहते क्योंकि उसकी जीवन में उपयोगिता हम नहीं समझ सके। भजन कीर्तन आदि हमारे लिये मनोरंजन व समय काटने के साधन मात्र बन कर रह गये हैं। ऐसे में मन न लगने की शिकायत करना व्यर्थ है।

संसार का नियम है कि हमारा मन उसी वस्तु में लगता है जिससे हमें प्रेम है। यदि गुरु से हमारा प्रेम का रिश्ता मजबूत नहीं हुआ और हमारा उनसे बराबर सम्पर्क नहीं बना रहा तो ध्यान करते समय हमारा मन उन पर केन्द्रित नहीं हो सकता है। इसीलिये सूफी संतों ने जज़्ब अर्थात् प्रेम को बहुत ऊँचा स्थान दिया है। संत मत भी कहता है सबसे ऊँची प्रेम सगाई। हम सांसारिक सम्बन्धों के टूटने पर रोते हैं परन्तु हम में से कितने ऐसे लोग हैं जिनकी आँखें गुरु की याद आने पर नम हो जाती हैं। ध्यान के सम्बन्ध में निम्नलिखित बातों पर अमल करने से प्रगति जल्दी होती है:-

1) जहाँ तक हो सके ध्यान दोनों समय अर्थात् सुबह व सोने से पहले एक निश्चित समय पर ही होना चाहिये।

2) बीच-बीच में नागा करके ध्यान से कोई लाभ नहीं होता है। गन्डेदार अभ्यास का कोई मूल्य नहीं है। अभ्यास निरन्तर व लम्बे समय तक करना पड़ता है। योग सूत्र में पतंजलि ने कहा है:-

'सतु दीर्घकाल नैरन्तर्य सत्कारा सेवती दृढ़ भूमि'

3) साधकों को ध्यान में अति नहीं करना चाहिये। आधे घंटे के नियमित अभ्यास से अधिक नहीं करना चाहिये। अधिक देर तक ध्यान करने से दिमाग में गर्मी व उलझन पैदा होती है व अन्य शारीरिक रोग होने का भय रहता है।

4) मन लगाने के लिये यह आवश्यक है कि साधक अपना खाली समय सत्संगी भाइयों के बीच ही बिताएँ। अश्लील मनोरंजन के साधनों से दूर रहें।

5) अपने गुरु से अधिक से अधिक सम्पर्क रक्खे।

6) अपनी स्थिति समय-समय पर गुरु को बतलाते रहें, यह ध्यान रखना आवश्यक है कि दूसरों के सामने न बताएँ। वे अपने सामने ध्यान करा कर रुकावट को दूर कर देते हैं।

7) ध्यान को कर्मकांड समझ कर न करें। यह मशीनी प्रक्रिया (Mechanical Process) नहीं है। महज फर्ज अदायगी या खानापूरी नहीं है। इसके मकसद को हमेशा याद रक्खें। इसका उद्देश्य अनेक से एक पर आना व बाहरी वृत्तियों को समेट कर अर्न्तमुखी होकर अपने अन्दर देखना है। यह न भूलें कि हृदय क्षेत्र में लगातार गुरु चिन्तन की दिशा में ध्यान पहला कदम है।

8) यदि सम्भव हो तो सब गुरु भाई मिलकर सामूहिक ध्यान किया करें इसमें प्रगति जल्दी होगी।

9) नये साधकों को निराकार ईश्वर का ध्यान करने का प्रयत्न नहीं करना चाहिये। गुरु की चैतन्य शक्ल का ही ध्यान फल देता है।

10) अपने गुरु में पूर्ण श्रद्धा व विश्वास हो। शंकालु मन वाले का न तो मन लगेगा और न ही कोई फायदा हासिल होगा।

11) मन लगे या न लगे, गुरु की आज्ञा समझकर ध्यान करते रहना चाहिए।

12) बार-बार ध्यान की विधि बदलना व प्रयोग करना केवल समय की बरबादी है।

13) मन न लगने का एक कारण यह भी है कि ध्यान के अभ्यास के साथ-साथ हमारी सांसारिक वस्तुओं में ममत्व की भावना का कम न होना है। ज्यों-ज्यों वैराग्य अर्थात् ममत्व का न होना बढ़ता जायेगा, हमारे ध्यान में एकाग्रता भी बढ़ती जायेगी। यदि बैठने पर मन न लगे तो उठ जायें, थोड़ी देर बार फिर ध्यान में बैठा जा सकता है ऐसा बुजुर्ग सन्तों का मत है।

शास्त्रों में आया है कि शब्द ही ब्रह्म है व ईश्वर का स्वरूप प्रकाशवान व तेजोमयी है। इस आधार पर कुछ लोग शब्द सुनने पर ध्यान कराते हैं। कुछ गुरु को ईश्वर मान कर उनके तेजोमयी स्वरूप अर्थात प्रकाश पर ध्यान कराते हैं। दोनों ही पद्धतियाँ ठीक है। शब्द पर ध्यान करने वालों को भी प्रकाश दिखता है और प्रकाश पर ध्यान करने वालों को भी आगे चलकर शब्द सुनायी पड़ता है। यह अपने-अपने संस्कारों पर निर्भर है कि कुछ साधकों को शब्द जल्दी सुनायी पड़ने लगता है व कुछ को देर लगती है। यही बात प्रकाश के सम्बन्ध में भी लागू है। परन्तु इस देरी से निराश होने की आवश्यकता नहीं है। सदैव यह याद रखो कि ध्यान हमारा लक्ष्य नहीं है। यह केवल लक्ष्य तक पहुंचने का एक साधन मात्र है। बहुत से साधक ध्यान को ही सब कुछ समझने की भूल कर बैठते हैं। आगे चलकर ऊँची स्थितियों में पहुंचकर ध्यान भी छूट जाता है और बगैर ध्यान लगाये ही साधक दिन रात गुरु चिन्तन में लीन रहता है।

कुछ साधकों ने इस रूहानी इल्म के विषय में अज्ञानवश भ्रम व ग़लतफ़हमियाँ पाल रक्खी है जो कि रूहानी सफर में भटकाव पैदा करती हैं। बहुत से साधक इनमें फँस कर फिर वापस संसार के मायाजाल की ओर मुँह मोड़ लेते हैं। जो साधक केवल अंतिम सत्य (The Absolute Truth) को जानने की इच्छा लेकर गुरु के पास आता है, जो अपने निज स्वरूप को जानने की तमन्ना रखता है केवल वही ईश्वर के दरबार में जाने का अधिकारी होता है। ऐसों के लिये ही गुरु

अपना सर्वस्व न्योछावर करने को तैयार रहते हैं। परन्तु देखा यह जाता है कि प्रायः शत प्रतिशत लोग केवल सांसारिक इच्छाओं की पूर्ति के लिये ही गुरु के पास आते हैं। यदि उनकी इच्छाएँ पूरी नहीं हुई तो उनका विश्वास गुरु से उठ जाता है और वे सत्संग छोड़ जाते हैं। रूहानी दौलत ऐसे लोगों के भाग्य की चीज नहीं है।

कुछ लोग यह सोच लेकर चलते हैं कि गुरु कुछ नया तो बताएँगे नहीं। जो कुछ बतलाते हैं वह सब गीता, रामायण व उपनिषदों में लिखा है। साधना की विधि भी पुस्तकों में लिखी होती है। फिर गुरु की क्या आवश्यकता है। क्या हम अपने स्वयं की कोशिश से मकसद हासिल नहीं कर सकते हैं? सूफियों ने रूहानी विद्या को 'इल्मे सीना' कहा है अर्थात् सीना ब सीना यह इल्म दिया जाता है। गुरु अपने आत्म बल से अपनी शक्ति शिष्य के हृदय में प्रवेश कराते हैं। इस प्रकार शिष्य को तवज्जोह देकर उसके हृदय के मल व आवरणों को काट कर उसे निर्मल बनाते है। केवल पुस्तकीय ज्ञान से यह मुमकिन नहीं है।

गुरु (पीर) जिन्दा किताब है उनसे सीखो।

साधना के मार्ग में काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहँकार प्रमुख बाधायें हैं। इनमें से प्रथम चार को तो साधक अपनी साधना से कुछ सीमा तक नियंत्रित कर सकता है परन्तु अहँकार का पर्दा बगैर गुरु के नहीं काटा जा सकता है। आनन्दमय कोश में भी अहँकार का एक झीना आवरण रह जाता है। जो केवल गुरु कृपा से ही दूर हो सकता है। जब तक कर्तापन का भाव है, जब तक व्यक्ति में 'मैं' का बोध है, जब तक द्वैत अर्थात मैं और तू का ज्ञान है तब तक अहँकार अपने सूक्ष्म रूप में मौजूद रहता है। यह केवल सदगुरु की दया से ही दूर हो सकता है। यहाँ पर अपना प्रयत्न कुछ काम नहीं आता है। जब तक शिष्य गुरु में लय नहीं हो जाता है तब तक अहँकार का हल्का आवरण बना ही रहता है। यही पूर्ण समर्पण है।

अधिकांश साधक इस अन्धविश्वास को लेकर जीते हैं कि अब तो हमने गुरु कर लिया है और गुरु दरबार में अपनी हाजिरी लगा देते हैं, अब हमें कुछ नहीं करना है गुरु ही हमें मोक्ष दिलायेंगे। इसी जन्म में हमारी मुक्ति हो जायेगी। साधकों को ऐसे भ्रम नहीं पालने चाहिये। केवल हाजिरी लगा देने से कुछ भी हासिल नहीं होने वाला है। स्कूल में चपरासी जीवन भर अपनी हाजिरी दर्ज कराता रहता है परन्तु विद्या उसके हाथ नहीं आती है। वहीं दूसरी ओर गुरु से शिक्षा प्राप्त कर विद्यार्थी ऊँचे ओहदों पर पहुंच जाते हैं। साधक को निज कृपा करनी होगी उसे पूर्ण रूप से मुमुक्ष बनना होगा। उस परम सत्य को जानने की उत्कट इच्छा जाग्रत करनी होगी। गुरु के बताये हुए साधन को निरन्तर करते हुये उनकी निकटता प्राप्त करनी होगी। तभी वह गुरु कृपा का अधिकारी बन पाता है।

साधक जब साधना प्रारम्भ करता है तो उसका ध्यान कुंडलिनी जागरण, चमत्कारों व भिन्न-भिन्न प्रकार की समाधियों की ओर ही रहता है। यदि आप इन्हीं में भटक कर रह गये तो उस परम तत्व तक कभी नहीं पहुंच पायेंगे। यह चीज़ें तो अनायास ही आपको प्राप्त हो जायेंगी। हमारे यहाँ की साधना शैली में गुरु शिष्य की आँखों पर पट्टी बांध कर आगे ले चलते हैं ताकि वह मार्ग के आकर्षणों में बहक कर अपने मकसद को न भूलें।

साधक यह भूल जाते हैं कि यह साधना प्रेम की साधना है। यह विशुद्ध प्रेम योग है। गुरु का प्रेम ही वह ऊर्जा है जो शिष्य को आगे बढ़ाती है। शिष्य का प्रथम कर्तव्य है कि वह अपने सदगुरु से प्रेम का नाता जोड़े और उस प्रेम डोर को दृढ़ करें। परम सन्त श्री राधा मोहन लाल जी (चच्चा जी महाराज के मँझले पुत्र एवं मेरे पूज्य पिता जी) के पास इरीना ट्वीडी (Irina Tweedie) नामक एक यूरोपियन महिला गुरु की तलाश में सारा भारत घूमने के बाद योग विद्या सीखने के लिये आयीं। उन्होंने सर्वप्रथम उस महिला से यही कहा कि इस साधना को सीखने के लिए तुम्हें मुझसे प्रेम करना होगा। उस महिला ने चुनौती दे डाली कि आप मेरे

अन्दर प्रेम पैदा कर दें। वह कई वर्ष आर्यनगर (कानपुर) में रही और गुरु प्रेम रस में ऐसी डूबी कि पूर्ण होकर ही निकली। उसने यूरोप के कई देशों व अमेरिका में गोल्डन सूफी केन्द्र खोले और वहाँ गुरु के मिशन का कार्य आगे बढ़ाया।

(Ref. 'Daughter of Fire', Irina Tweedie (1984) Publisher – Blue Dolphin, U.S.A)

कुछ बिरले ही इस अध्यात्मिक रहस्य को समझ पाते हैं कि साधना में प्रथम स्थान गुरु का है। रूहानी इल्म ज्ञान हम तीन प्रकार से हासिल करते हैं। 1) शब्द ज्ञान 2) अनुमान द्वारा ज्ञान अर्जन करना 3) साक्षात्कार अर्थात अपने अनुभव से प्रत्यक्ष ज्ञान पाना। प्रथम मनुष्य किसी सन्त महात्मा के प्रवचन सुन कर या किसी धार्मिक पुस्तक को पढ़ कर ईश्वरीय ज्ञान के विषय में प्रारंभिक जानकारी हासिल कर सकता है। द्वितीय चरण में वह प्रारम्भिक जानकारी के आधार पर मन व बुद्धि द्वारा अनुमान लगाकर उसका एक स्वरूप निर्धारित करता है। परन्तु यह सभी ज्ञान अधूरे हैं क्योंकि उसके अपने अनुभव पर आधारित नहीं है। अंत में वह किसी समर्थ गुरु के शरणागत होकर उनके द्वारा बतलाए हुए साधन से ईश्वर के वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार करता है और ईश्वरीय शक्ति एवं उसकी सत्ता का अनुभव करता है। कहते हैं:-

रहिमन बात अगम्य की कहन सुनन की नाहिं।
जे जाने ते कहें नहिं, कहे तो जानत नाहिं ॥

जिसने गुरु के शरणागत होकर पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया है वह गुम व खामोश हो जाता है। रज व तम की धारें उस पर कोई प्रभाव नहीं डालती हैं।

कहूँ मैं किस तरह अब, मैंने उस महफिल में क्या देखा है।
ज़बां जब काट ली है, तब किया है राज दां मुझको ॥

मनुष्य एक स्थूल शरीर धारी प्राणी है। परमात्मा का कोई स्थूल स्वरूप नहीं है। वह अत्यन्त सूक्ष्म शक्ति मात्र है। ऐसे में दोनों का मिलन कैसे सम्भव है। आज के इस भोगवादी संस्कृति के युग में उसकी शक्तियाँ क्षीण हो चुकी हैं। आज के मनुष्यों में पूर्वजों की तरह कठिन परिश्रम, जप, तप आदि करने की शक्ति नहीं है। ऐसे में केवल सदगुरु के शरणागत होकर ही पार लगा जा सकता है। गुरु मनुष्य एवं ईश्वर के बीच की कड़ी है। हमारे बीच रहता हुआ स्थूल लोकों से मिला हुआ है और साथ ही साथ सूक्ष्म लोकों में विचरण करता हुआ ईश्वर की शक्ति एवं सत्ता का साक्षात्कार भी करता रहता है। ऐसे व्यक्ति से सम्बन्ध बनाकर हमें उससे शक्ति पूजा प्राप्त करनी चाहिये। तभी हमारा कल्याण सम्भव है। कहा जाता है कि कबीर साहब ने हिन्दुओं में व हजरत बहाउद्दीन साहब ने मुसलमानों में गुरु भक्ति की भावना को दृढ़ किया। इन संतों ने यह उपदेश दिया कि तुम्हें कुछ नहीं करना है। सिर्फ अपने पीर (गुरु) से मुहब्बत का रिश्ता जोड़ लो और अपने को उनके आसरे छोड़ दो। गुरु को अपने हृदय में बसा लेने से ही इस भव संसार को पार किया जा सकता है। ठीक ही कहा गया है:-

जा पल दरशन साध का, ता पल की बलिहार ।
सन्त नाम रसना बसे, कीजै जनम सुधार ॥
सब कुछ गुरु के पास है, पाइये अपने भाग्य ।
सेवक मन का प्यार है, रहे चरण में लाग ॥
गुरु की आज्ञा मान लें, सब कारज सिद्ध होय ।
अमर अभय पद पाइये, काल न व्यापे सोय ॥

साधक का अपने गुरु से मुहब्बत का रिश्ता जितना मजबूत होता जाता है उतना ही वह अदम व फ़ना की अवस्थाओं को प्राप्त होता है। अदम शिष्य पर आने वाली वह हालात है जब प्रेम के जज़्ब में उसे न अपनी सुध रहती है और न गुरु की

। फ़ना वह हालत है जब उसका अहँ भाव पूरी तरह नष्ट होकर उसका अस्तित्व गुरु में विलीन हो जाय। गुरु व शिष्य एक हो जाँय।

समर्थ गुरु का दर्शन होना हर एक के भाग्य की चीज नहीं है । यह जन्म-जन्मान्तर के पुण्यों का फल होता है। केवल कुछ भाग्यशालियों को ही प्रारम्भ से ही समर्थ गुरु का समीपत्व नसीब होता है। अन्यथा लोग गुरु बदलते रहते हैं। एक साधक के लिए सदगुरु की पहिचान करना बहुत कठिन कार्य है। परन्तु कुछ ऐसे लक्षण हैं जिन से पहिचान की जा सकती है। जिस व्यक्ति के पास बैठने से मन को शान्ति मिलती हो, विचारों का प्रवाह रुक जाय, मन में उठते हुए संकल्प-विकल्प ठहर जाय, जिसके सामने बैठने से मन स्वतः ही ईश्वर आराधना में लग जाय, जो हर समय गुरु ध्यान में लीन होकर अपने गुरु से तदरूपता प्राप्त कर ले, जो बाहर भीतर एक जैसा हो, ऐसा व्यक्ति सदगुरु कहलाने का अधिकारी है।

गुरुओं की भी श्रेणियाँ होती है। हर श्रेणी के गुरु का कार्य अलग-अलग होता है । गुरुओं को उनके कार्य, योग्यता, शक्ति आदि के आधार पर निम्नलिखित श्रेणियों में बांटा जा सकता है।

पीर अर्थात प्रारम्भिक गुरु:- इनका कार्य केवल इतना ही है कि मनुष्य के इरादे को आध्यात्मिक दिशा की ओर मोड़ दे । उसे रास्ता बता दे आगे उसे सफलता मिलती है या नहीं इससे उन्हें कोई सरोकार नहीं । ये केवल वाणी से मौखिक उपदेश देते हैं। ये हृदय से हृदय को शिक्षा नहीं दे सकते हैं। आन्तरिक सत्संग कराना इनका कर्तव्य नहीं है। इनका कार्य केवल कर्मकांड सिखाकर मनुष्य को ईश्वर की ओर लगाना है।

कर्मकाण्ड की साधनाएँ भी व्यर्थ नहीं जाती हैं। यदि चाहत व लगन सच्ची है तो ईश कृपा से मार्ग दर्शन मिल जाता है। हम अपने मुख्य लक्ष्य तक पहुंच सकते हैं । परन्तु बिना मार्ग दर्शक के इसमें भी बहुत समय लगता है । इसके आगे मनोमय

कोश में सदगुरु की आवश्यकता होती है। उपासना के साधन तभी सफल होते हैं जब हम गुरु के सम्मुख बैठें और वह अपनी तवज्जोह (शक्ति) से शिष्य को ऊपर उठायें। यहाँ पर वाणी द्वारा उपदेश को महत्व नहीं दिया जाता है। सीने ब सीने शिक्षा दी जाती है। ऐसे सदगुरु की भी कुछ श्रेणियाँ है।

गुरु है चार प्रकार के अपने अपने अंग।
गुरु पारस दीपक गुरु मलयागिरि गुरु भृंग॥

पारस गुरु:- पारस को छूने से लोहा स्वर्ण में बदल जाता है। पारस गुरु वे कहलाते हैं जिनके संसर्ग में आने से मनुष्य में सद्विचार व उच्च गुणों का समावेश होने लगता है। जैसे पारस लोहे को पारस नहीं बना सकता है वैसे ही पारस गुरु शिष्य को अपने जैसा नहीं बना सकते हैं।

दीपक गुरु:- एक जलते हुए दीपक से दूसरा दीपक जलाया जा सकता है। शर्त यह है कि दूसरे दीपक में तेल व बाती हो। यदि शिष्य का हृदय रूपी पात्र साफ है, उसकी मलिनता हट चुकी है, उसमें श्रद्धा और विश्वास है तो ऐसे गुरु से वह अपने अंधकार को दूर करने के लिए प्रकाश ले सकता है।

मलयागिरि गुरु:- चन्दन वृक्ष के आसपास के वृक्ष भी सुगन्धित हो जाते हैं। ऐसे गुरुओं के आस-पास का स्थान एक प्रकार से तपोभूमि बन जाता है। उनसे निकलती हुई सत की धारें उस स्थान को पवित्र कर देती है। ऐसे गुरुओं के संसर्ग में आने से व्यक्ति में अपने आप परिवर्तन होने लगते हैं और वह भी सात्विक विचारों वाला बन जाता है।

भृंगी गुरु:- हमारे यहाँ के साधन को भृंगी साधन कहा जाता है। भृंगी कीड़े की कैद में रहने वाला कीड़ा भय के कारण लगातार भृंगी की ओर ही देखता रहता है। कुछ समय पश्चात् वह भी भृंगी जैसा ही हो जाता है। इसी प्रकार जो साधक सदैव गुरु चिन्तन में ही लीन रहते हैं एक न एक दिन अपने गुरु जैसे ही हो जाते हैं।

उनका अहँ गुरु में विलीन हो जाता है और यहाँ तक कि उनकी बाह्य रूप में भी गुरु से तदरूपता हासिल हो जाती है। लाला जी साहब (महात्मा राम चन्द्र जी महाराज) ने स्वयं एवं उनके कुछ शिष्यों ने भी यह तदरूपता हासिल कर ली थी।

समर्थ गुरु:- सबसे ऊँची श्रेणी के सर्व शक्ति सम्पन्न गुरु होते हैं। इनके सामने बैठने वाला व्यक्ति कभी खाली नहीं लौटता है। ये क्षण मात्र में शिष्य को अभीष्ट स्थान में पहुंचाने की क्षमता रखते हैं। पिछली श्रेणियों के गुरुओं में सकामता का एक झीना आवरण बना रहता है परन्तु समर्थ गुरु निष्कामता, अभेद बुद्धि व प्रेम के भंडार होते हैं। इन्हें अध्यात्म मार्ग का पूरा अनुभव होता है। सामने आये हुए व्यक्ति को देखकर ही ये जान लेते हैं कि यह पूर्व जन्मों में कहाँ तक साधना कर चुका है और आगे कहाँ से इसे बढ़ाया जाय। इनकी एक निगाह से मनुष्य की स्थिति बदल जाती है। ऐसे परम संत के लक्ष्मण गीता में इस प्रकार बतलाया है:-

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।
शमः सर्वेषु भूतेष मद भक्तिं लभते परम ॥

ऐसा महात्मा ब्रह्मनिष्ट व ईश्वरमय हो जाता है। न उसे किसी प्रकार की चिन्ता सताती है और न ही उसे किसी प्रकार की इच्छा या आकांक्षा रहती है। वह पूर्ण रूप से साम्यावस्था प्राप्त कर लेता है। राग-द्वेष, हर्ष-शोक, सुख-दुख आदि माया के खेल उसे प्रभावित नहीं कर पाते हैं। उसका जीवन ईश्वर के प्रेम व अनन्य भक्ति से धन्य हो जाता है।

हर श्रेणी के गुरु का कार्य अलग-अलग है। गुरु प्राणमय कोष पार कराने में सहायक होता है तो सदगुरु शिष्य को मनोमय व विज्ञानमय का मार्ग दर्शाता है। समर्थ गुरु माया से परे आत्मा व परमात्मा का अनुभव करा कर आनन्दमय कोष के माया व अहँकार का झीना आवरण काटकर उसे अध्यात्म के उच्चतम शिखर तक पहुँचाता है। वास्तव में गुरु शक्ति एक ही है उसके तीन रूप अलग-अलग होकर

समयानुसार मनुष्य को पार लगाते हैं। परम संतों के दरबार में यह भी देखा गया है कि कभी-कभी समर्थ गुरु अपने शिष्यों के संस्कारों का भोग स्वयं करके कष्ट उठाते हैं और उन्हें ऊँची अवस्थाओं में पहुँचाते हैं। यदि सदगुरु ने शिष्य को अपना लिया तो उसके लिये कुछ भी दुर्लभ नहीं है।

सतगुरु मिल निर्भय भया, रही न दूजी आस।
जाय समाना शबद में, सन्त नाम विश्वास ॥

अध्यात्म विद्या के रहस्यों के जानने में गुरु का प्रकाश ही सबसे अधिक महत्व की वस्तु है। शिष्य जितना अधिक अपने को गुरु के प्रकाश (प्रेम) में डुबोता है, उतना ही वह फ़नाइयत (लय अवस्था की ओर बढ़ता है। गुरु के प्रकाश में ही हम महान धार्मिक ग्रन्थों का सही अर्थ समझ सकते हैं क्योंकि ऐसे ग्रन्थों का निर्माण भी गुरु के प्रकाश में ही किया गया है।

तुलसीदास जी ने रामचरित मानस के प्रारम्भ में ही यह बात स्पष्ट कर दी है:-

श्री गुर पद नख मनि गन जोती, सुमिरत दिव्य दृष्टि हिय होती।
दलन मोह तम सो स प्रकासू, बड़े भाग उर आवई जासू ॥

गुरु महिमा का इससे अधिक क्या बखान हो सकता है कि बलिहारी ऐसे गुरु को जिन गोविन्द दियो बताय।

तृतीय अध्याय

शिष्यों की श्रेणियाँ

परमात्मा की अनुभूति के लिये हमें किसी ऐसे सदगुरु से सम्बन्ध जोड़ना पड़ता है जिसने कि स्वयं उस आनन्द का अनुभव किया हो। परन्तु समर्थ गुरुओं के पास शिष्य धर्म का निबाहना बड़ा ही कठिन कार्य है। यों तो ऐसे गुरु सदैव ऐसे अधिकारी शिष्य की तलाश में रहते हैं जिन्हें वे अध्यात्मिक रहस्यों की पूर्ण जानकारी दे सके। एक या दो ही शिष्य निकल पाते हैं जो निष्ठा, भक्ति, प्रेम व पूर्ण समर्पण के माध्यम से गुरु की रूहानी दौलत के हकदार बनते हैं। शिष्य के लिये मुख्य चीज है अपनी पात्रता सिद्ध करना। तभी वह गुरु के हृदय में अपने लिये प्रेम, पैदा कर सकता है कहते हैं:-

सब को है उसके जल्व-ए-रंगी की जुस्तजू।
यह सोचता नहीं कोई ताबे नज़र भी है ॥

ईश्वर दर्शन की इच्छा तो सभी करते हैं परन्तु हम यह नहीं देख पाते हैं कि हमारे अन्दर कितनी योग्यता व क्षमता है, गुरु के प्रति कितनी भक्ति व समर्पण की भावना है। शिष्यों को भी उनकी क्षमता, दृढ़ निश्चय, प्रेम व गुरु भक्ति और जिज्ञासा के आधार पर निम्नलिखित श्रेणियों में बाँटा गया है:-

मुरीद इब्तदाई:- गुरु से प्रथम बार के मिलन पर न तो इन्हें दीक्षा दी जाती है और न ही सही मायने में शिष्य समझा जाता है। यह शिक्षा प्रारम्भ करने वाले शिष्य होते हैं। गुरु इनकी जिज्ञासा देखकर साधन की क्रिया बतला देते हैं। हमारे यहाँ की शैली में गुरु किसी भी नये आये जिज्ञासु को निराश नहीं करते हैं। न उससे अधिक पूछताछ की जाती है और न ही यह देखा जाता है कि उसका व्यक्तिगत जीवन कैसा रहा है। प्राचीन काल की तरह उसकी कठिन परीक्षा नहीं ली जाती है। उसे क्रिया

बतला दी गयी और यदि वह श्रद्धा व विश्वास के साथ दृढ़ता पूर्वक लगा रहा है तो उसे आगे के रहस्य बतलाये जाते हैं। यदि वह छोड़कर चला गया तो गुरु उसकी ओर से उदासीन हो जाते हैं और उसकी खोज खबर नहीं लेते। यह शिष्य के परिश्रम पर निर्भर है कि उसकी प्रारम्भिक शिक्षा की अवधि कितनी रहे। हो सकता है आपको अगला दर्जा कुछ महीनों या वर्षों में मिल जाय। अधिकांश लोगों में गुरु के प्रति विश्वास व प्रेम कम होता है। हृदय की मलिनता दूर करने के लिये दृढ़ निश्चय की भी कमी रहती है ऐसे प्रारम्भिक शिष्य जीवन भर कोरे ही रह जाते हैं। अगला दर्जा वही शिष्य पाते हैं जो कुतर्की न हो गुरु के बताये हुए साधन को उनकी आज्ञा समझ कर लगातार करते रहे चाहे मन लगे या न लगे। इस प्राइमरी क्लास को भी बहुत कम लोग ही पास कर पाते हैं। आजकल के शिष्य झपट्टामार प्रवृत्ति के होते हैं। बगैर कुछ मेहनत किये हुए एक दिन में ही गुरु की रूहानी दौलत लेना चाहते हैं। अध्यात्मिक क्षेत्र में ऐसा करना सम्भव नहीं है।

मुरीद सादिक:- जब नया जिज्ञासु पहली श्रेणी पास कर लेता है तभी वह शिष्य कहलाने का वास्तविक अधिकारी होता है और उसकी सही ट्रेनिंग आरम्भ होती है। इन्हीं शिष्यों को आगे की मंजिलें पार कराने की जिम्मेदारी गुरु की होती है। इनके अहँकार व कर्तापन के भाव को तोड़ना पड़ता है। कहा गया है:-

पीया चाहे प्रेम रस और राखा चाहे मान।
एक म्यान में दो खड़ग देखे सुने न कान॥

यह काम वही गुरु कर पाते हैं जो शिक्षा के दौरान शिष्य के साथ कुछ सख्ती से पेश आवें। शिष्य को डाँट फटकार लगायी जाती है, महफिल से बाहर भी किया जाता है तरह-तरह से अपमानित किया जाता है अनेक मुसीबतों का सामना करवाया जाता है। इस प्रकार शिष्य की परीक्षा भी हो जाती है। सच्चा शिष्य वही है जो ऐसे समय में भी गुरु के प्रति अपने विश्वास व प्रेम को डाँवाँडोल नहीं होने देता है। बहुत नरमी बरतने से शिष्य का अहँ भाव नहीं टूटता है। ऐसा देखा जाता है कि

कभी-कभी नरम बर्ताव करने वाले रहमदिल समर्थ गुरु महान शिष्य नहीं तैयार कर पाते हैं। मेरे पूज्य पिता जी (संत श्री राधा मोहन लाल जी) मेरे पूज्य बाबा जी (परम संत श्री चच्चाजी महाराज) के विषय में ऐसा ही कहते थे Quoted in 'Daughter of Fire', by Irina Tweedie, Blue Dolphin Publishing California, U.S.A 1986.

मुरीद फिदाई:- ऐसे प्रेमी शिष्य बिरले ही होते हैं। ऐसे शिष्यों का मुख्य साधन राजी व रजा है। ये पूरी तरह गुरुमुख होते हैं। गुरु की मर्जी ही इनका जीवन है। ये पूर्णरूपेण गुरु शरणागत होते हैं। इनको लोक-परलोक, सांसारिक वैभव यहाँ तक कि मुक्ति से भी कोई लेना देना नहीं है। इनकी भेद बुद्धि समाप्त हो जाती है। गुरु व ईश्वर अलग-अलग नहीं है। गुरु ही ईश्वर है। ऐसा प्रेम का जज़्बा विज्ञानमय के पार करने पर ही मुमकिन है। सच्चाई तो यह है कि ऐसा प्रेम अपने परिश्रम से नहीं पैदा होता है। जिसे गुरु अर्थात् ईश्वर अपनी ओर खींचना चाहते हैं उसी के हृदय में ऐसे प्रेम रस की धार उनकी कृपा से उत्पन्न होती है।

इश्क अव्वल हर दिल-ए-माशूक़ पैदा मी शबद।
तान सोजद शम्मा कि परवाना शैदा भी शबद॥

प्रेम पहले माशूक़ के हृदय में उठता है फिर उसका प्रभाव आशिक पर पड़ता है। जब तक पहले शमा नहीं जलती कोई परवाना उस पर मर मिटने को नहीं आता।

ऐसे शिष्यों का अहँ पूरी तरह से गुरु में विलीन हो जाता है।

शिष्य के लिये अभेद दृष्टि का होना लाजिमी है अर्थात यदि वह गुरु व ईश्वर में भेद करता है तो रूहानी मंजिलें उसके भाग्य में नहीं है। हमारे यहाँ की साधना शैली एक प्रकार से प्रेम का सौदा है। गुरु को ईश्वर ही समझना प्रथम दिन से सम्भव नहीं है। इसमें भी शिष्य को कई मंजिलें पार करनी पड़ती हैं। प्रथम दर्शन के दिन

गुरु शिष्य के हृदय में प्रेम का बीज डाल देते हैं और कह देते हैं कि भाई साधना की क्रिया भले न करो लेकिन मिलते जुलते अवश्य रहो। मिलने जुलने से प्रेम की भावना आगे बढ़ती है। लगातार गुरु से सम्पर्क बनाये रखने पर धीरे-धीरे शिष्य को यह अनुभव होने लगता है कि जिस व्यक्ति को अभी तक हम एक नेक इन्सान समझ रहे थे, वह वास्तव में ईश्वरीय गुणों से विभूषित है और असाधारण शक्तियों का मालिक है। यदि इस दौरान शिष्य के गुरु के प्रति श्रद्धा व विश्वास में कोई कमी नहीं आयी तो प्रेम का यह रिश्ता और मजबूत होता जाता है और कुछ वर्षों की साधना व नियमित गुरु दर्शन से एक दिन अचानक शिष्य को यह आभास होता है कि मेरे सामने स्वयं परमात्मा ही नर रूप में विद्यमान है। वास्तव में उसी दिन से सही रूप में साधना प्रारम्भ होती है। उससे पहिले की सारी साधना व पूजा केवल तैयारी मात्र है।

एक सच्चे शिष्य के लिये साधना के साथ शिष्य धर्म से जुड़े कुछ कर्तव्यों को भी ध्यान में रखना आवश्यक है। ये निम्नलिखित हैं:-

1) अपने गुरु में पूर्ण श्रद्धा व विश्वास रक्खें।

2) गुरु की बतलायी हुई साधना को नियमित रूप से करता रहे।

3) अपने गुरु से नियमित सम्पर्क बनाये रखें, आवश्यकता पड़ने पर पत्र व्यवहार से भी संकोच नहीं करना चाहिये।

4) यद्यपि सदगुरु अपनी सेवा कराना पसंद नहीं करते हैं फिर भी शिष्य का कर्तव्य है कि तन-मन-धन से गुरु की सेवा में कोई कमी न आने दें।

5) गुरु के आज्ञा पालन में कभी ग़फ़लत न आने पावे।

6) यदि गुरु की आज्ञानुसार किसी अन्य गुरु के पास जाना पड़े तो उनमें भी अपने गुरु की ही छवि देखे। यदि बगैर गुरु आज्ञा के किसी अन्य के पास जाता है तो गुरु कृपा से वंचित रह जायेगा।

7) अपने सभी कर्मों को यहाँ तक कि साधना के फल को भी गुरु के चरणों में अर्पित करता चले।

8) पूर्ण रूप से गुरु मुख बनना ही शिष्य का मुख्य कर्तव्य है।

9) साधना काल में हुए अनुभवों को केवल अपने गुरु को ही बतलाए अन्य किसी को नहीं।

10) समय-समय पर अपने मन की स्थित से गुरु को अवगत कराते रहना चाहिये।

11) हर समय गुरु चिन्तन में ही लीन रहना चाहिए।

गुरु दरबार में शिष्य के लिये शिष्टाचार का पालन अत्यन्त आवश्यक है। कहते हैं "अदब पहला क़रीना है मुहब्बत के क़रीनों में"। शिष्य की बेअदबी को माफ नहीं किया जा सकता है। उसे कुछ खास बातों पर ध्यान देना चाहिए।

1) गुरु के समक्ष पहुंच कर उन को प्रणाम करना चाहिए।

2) केवल गुरु के प्रति ही नहीं बल्कि उनके परिवार के अन्य सदस्यों से भी अदब से पेश आना चाहिये।

3) गुरु से कभी भी किसी की निन्दा नहीं करना चाहिये।

4) उनके सामने जोर से बोलना, हँसना व अश्लील एवं निरर्थक बातें करना वर्जित है।

5) उनके सामने पैर फैला कर बैठना, लेटना, टेढ़े-मेढ़े बैठना भी मना है।

6) उनसे अपनी रूहानी उन्नति के विषय में भी कुछ नहीं पूछना चाहिए।

7) अन्य सत्संगी भाइयों से भी शिष्टाचारवत प्रेम का व्यवहार करना चाहिए।

8) उनकी आज्ञा लेकर ही उनके सामने से उठ कर जाना चाहिये।

9) उनसे कभी भी व्यर्थ का तर्क-वितर्क नहीं करना चाहिए।

शिष्य को अपना अंतिम लक्ष्य नहीं भूलना चाहिये। वह है गुरु अर्थात ईश्वर में फना (लय) होना। उसे फना-फिल-शेख व फना-फिल-अल्लाह का दर्जा हासिल करना है। परन्तु यह मक़सद एक दिन में नहीं पूरा होता है। प्रथम शिष्य गुरु के स्थूल शरीर से प्रेम करता है। फिर धीरे-धीरे गुरु कृपा से स्थूल से सूक्ष्म में प्रवेश करता है। शिष्य में गुरु के गुण व स्वभाव उतरने लगते हैं। आगे गुरु कृपा से ही वह गुरु से तदरूपता हासिल करने में सफल होता है। ऐसी स्थिति बिरले शिष्य ही प्राप्त कर पाते हैं। गुरु व शिष्य के बीच का द्वैत भाव समाप्त हो जाता है। प्रेमी व प्रेमास्पद एक हो जाते हैं। वहाँ 'मैं' और 'तू' का अस्तित्व नहीं रहता। गुरु व शिष्य के इस प्रेम भावना का वर्णन नहीं किया जा सकता है। गुरु व शिष्य का एकत्व को प्राप्त होना कब व कैसे धटित होता है इसका बयान शायर जिगर ने शमा व परवाने के प्रेम के रिश्ते को लेकर इस प्रकार किया है:-

उसकी तस्वीर किसी तरह नहीं खिंच सकती ।
शमा के साथ तअल्लुक है जो परवाने का ॥
क्योंकि जज़्ब-ए-शौक ने दम लेने का मौका न दिया।
शमा मुँह देखती ही रह गई परवाने का ॥

यदि कभी गुरु के प्रति कभी कोई दुर्भावना पैदा हो तो प्रार्थना करना चाहिये क्योंकि यह कभी-कभी गुरु द्वारा परीक्षा की बात होती है।

चतुर्थ अध्याय

कौन सा मार्ग उपयुक्त है?

आजकल के साधक अधिक किताबी ज्ञान हासिल करने की वजह से प्रायः भ्रम में रहते हैं कि वे कौन सा मार्ग अपनायें। गुरु के बतलाये हुए मार्ग पर शंका करते हैं। यह सत्य है कि सभी मार्ग आत्म साक्षात्कार कराने में सक्षम हैं। भेद केवल इतना है कि कोई साधना पद्धति आसान है, कोई कठिन व नीरस है, कोई मंजिल तक जल्दी पहुँचाती और कोई देर में। चूँकि मनुष्य का स्वभाव बर्हिमुखी है इसलिये अधिकांश लोगों की रुचि कर्मयोग तथा कर्मकांड से जुड़ी मान्यताओं की ओर ही रहती है। हठयोग व तंत्र योग भी इसी के अन्तर्गत आते हैं। आज के मनुष्य को न तो समय है, न बल है और न ही प्राचीन काल जैसा वातावरण है। इसलिये इस रास्ते से आत्म दर्शन पाना असंभव जैसा ही है। इसमें कुंडली जागरण और नीचे से चलकर एक-एक चक्र खोल कर आगे बढ़ने की साधना है। इस रास्ते पर केवल चलने वाले साधकों को थोड़ी उन्नति करने के बाद पतित होते ही देखा गया है। इस प्रकार की साधना में अहँ व कर्तापन के भाव का नाश नहीं हो पाता है। साधक मन, इन्द्रियों व शरीर को साथ लेकर साधना करता है जबकि आन्तरिक साधना में इन पर नियंत्रण करना पड़ता है। आजकल इस मार्ग के पूर्ण पारंगत आचार्य भी नहीं दिखाई पड़ते हैं। केवल मानसिक शक्ति उभार कर करामातें दिखाने वाले गुरु ही दिखाई देते हैं। पूरा जीवन बीत जाने पर केवल आसन, प्राणायाम ही सिद्ध हो पाते हैं। आत्म दर्शन के मार्ग पर प्रगति नहीं हो पाती है। ऐसे साधकों की गाड़ी प्राणमय कोश तक ही पहुंच पाती है।

जिज्ञासु साधकों के सामने दूसरा तरीका उपासना या भक्ति मार्ग का है। यों तो उपासना व भक्ति का भाव एक ही होता है परन्तु दोनों में इष्ट के रूप का भेद होता है। यदि साधक निराकार अव्यक्त ईश्वर में मन लगाता है तो यह उपासना

कहलाती है। भक्ति में इष्ट शरीर धारी साकार मान कर उसकी पूजा की जाती है। बीते काल में शिव, विष्णु, राम, कृष्ण व भगवती जगदम्बा आदि की व्यक्त उपासना का सिलसिला शुरु हुआ और इन देवी देवताओं के शरीरों में ईश्वर की भावना ले आने को भक्ति का नाम दे दिया गया। आगे चलकर सन्तों ने इन बिना देखे देवताओं की भक्ति से गुरु भक्ति को सर्वश्रेष्ठ माना। सन्तमत निराकारवादी होते हुये भी साधना की प्रारंभिक अवस्था में गुरु ध्यान को महत्व दिया। मन को एकाग्र करने का सबसे सरल यही उपाय बतलाया गया। किसी देखी भाली, जानी बूझी चैतन्य शक्ल पर मन को स्थिर किया जाय। इस स्थूल के ध्यान के बाद फिर सूक्ष्म में जाया जाय। गुरु को ईश्वर का रूप मान कर उसे सामने बीठाकर अपने को उसके नजदीक समझकर मन को एकाग्र किया जाता है। यह साधना मनोमय कोश से प्रारम्भ की जाती है। जब साधक अपनी आत्मा को इष्ट में लय कर देता है तो यह उपासना योग कहलाता है। यह साधन केवल मन से किया जाता है। इसमें बुद्धि को कुछ लेना देना नहीं है। इसका प्रारंभ हृदय क्षेत्र से किया जाता है।

अध्यात्म क्षेत्र में लक्ष्य की प्राप्ति के लिये तीसरा तरीका ज्ञान योग का है। इसे सन्यस्थ या निवृत्ति मार्ग भी कहा जाता है। यह बहुत ही कठिन व नीरस साधन है। तुलसीदास जी ने कहा है:-

ज्ञान को पंथ कृपाण की धारा।
गिरत खगेश न लागहिं बारा ॥

इस साधन को करने में मन, कर्म, उपासना या भक्ति को पीछे छोड़ना पड़ता है। ज्ञान मार्ग उन्हीं साधकों के लिये है जिन्होंने पहले साधन चतुष्टय अर्थात शम, दम, तितिक्षा और उपराम इन चार साधनों को पूरा कर लिया है। शम का अर्थ है मन पर नियंत्रण कर लेना, दम का अर्थ है इन्द्रियों का दमन करना, तितिक्षा धैर्य व सहनशीलता को कहते हैं और उपराम का अर्थ है संसार से वैराग्य। इन चारों साधनों में पारंगत होने पर ही साधक ज्ञान योग का अधिकारी माना जाता है। इसे

बुद्धि योग के नाम से भी जाना जाता है। इस साधना का आरम्भ विज्ञानमय कोश से होता है। कहा जाता है कि बिना ज्ञान के मुक्ति नहीं होती है। परन्तु वास्तविक व अनुभवी ज्ञान ही साधक को आगे बढ़ाता है। किताबी ज्ञान तो केवल भ्रम की स्थिति ही पैदा करता है। ज्ञान मार्गी साधक सुरति की धार को बुद्धि के स्थान पर ही रोक देता है। उसे नीचे मन के स्थान पर नहीं आने देता है। इससे मन में कोई हरकत नहीं होने पाती है। वह शान्त व निश्चल पड़ा रहता है। इस प्रकार बुद्धि मन के प्रभाव में आने से बच जाती है। यहाँ का मुख्य साधन दृष्टा है। यहाँ ध्यान या और कोई क्रिया नहीं की जाती है। कर्म का अन्त हो जाता है और साधक की कर्त्ता बुद्धि जाती रहती है। उसका स्थान दृष्टा बुद्धि ले लेती है। कर्तापन समाप्त होने से नये संस्कार नहीं बनते हैं। इस प्रकार साधक पूर्व के संचित कर्मों को भोग कर आवागमन के चक्र से छूट जाता है। इस साधन में गुरु कर्त्ता है और शिष्य केवल दृष्टा। गुरु के प्रकाश में ही उसे अपने हृदय क्षेत्र के देखते रहने से वास्तविक ज्ञान प्राप्त होता है। ज्ञान या बुद्धियोग की सफलता के लिये यह आवश्यक है कि शिष्य अपना ध्यान किसी भी समय गुरु की ओर से न हटाये। इसमें गुरु विश्वास व समर्पण मुख्य है। इसमें केवल दृष्टा बन कर देखते जाना है। न कुछ ऊँच नीच है और न कुछ अच्छा बुरा। केवल कुछ ही साधक विज्ञानमय कोश से साधना शुरु करने के अधिकारी होते हैं।

ईश्वर तक पहुंचने का एक चौथा तरीका भी है जिसे अनन्य भक्ति या प्रेम योग कहा जाता है। यहीं पर ज्ञान भी पीछे छूट जाता है। बिना प्रेम के कोई भी साधन आत्म दर्शन नहीं करा सकता है।

जिस जगह सदियों के सच्चे भी रहे नाकामयाब।
उस जगह एक आह तकमील-ए-इबादत हो गई॥

सैकड़ों वर्षों की पूजा व तपस्या भी जिस वस्तु को पाने में असफल रहे, वहाँ प्रेम पीड़ा की एक कराह ने उसके पाने में सफलता प्राप्त कर ली। प्रेम व विरह की

अग्नि में साधक के सारे संस्कार भस्म हो जाते हैं। मिलन की आस के सामने संसार के सारे वैभव तुच्छ लगते हैं। वैराग्य की भावना बिना किसी साधन के स्वयं ही आ जाती है। प्रेम में एकाग्रता अपने आप आ जाती है। प्रेम पीड़ा में पतंजलि का अष्टांग योग पीछे छूट जाता है। प्रेम में प्रेमी का प्रेम पात्र (गुरु अर्थात् ईश्वर) के प्रति चिन्तन इतना अधिक और घना हो जाता है कि प्रेमी के हृदय में प्रेम पात्र के अतिरिक्त अन्य कोई विचार आता ही नहीं। साधक अपने गुरु की रूप समाधि में मन लगाकर लय अवस्था और फिर अद्वैत पद प्राप्त कर लेता है। लालाजी साहब (महात्मा रामचन्द्र जी महाराज) ने अपने कुछ शिष्यों को प्रेम के इस ऊंची अवस्था से साधन शुरु कराया था। परन्तु उनके पैर उस भूमि पर नहीं टिक सके और उन्हें नीचे उतार कर फिर साधना करायी गयी और आनन्दमय कोश में पहुँचाया गया।

प्रेम योग से साधना शुरु करने वाले करोड़ों में कोई एक साधक ही मिल पाता है। सत्य तो यह है कि जिसे ईश्वर चाहता है उसमें ही यह प्रेम का जज्बा पैदा करता है। कहा भी है:-

इश्क अव्वल दर दिल-ए-माशूक़ पैदा भी शबद।
तान सोजद शम्मा कि परवाना शैदा भी शबद॥

प्रेम पहले प्रेम पात्र के हृदय में पैदा होता है। बाद में प्रेमी के हृदय में पहुंचता है। जब तक पहले शमा नहीं जलती कोई परवाना उस पर आसक्त होने नहीं आता। यही सम्बन्ध ईश्वर और जीव का है जो गुरु और शिष्य रूप में संसार में पैदा होता है।

ईश्वर दर्शन अथवा आत्म-साक्षात्कार की दिशा में हम जो भी कदम उठाते हैं वे सब साधना के अन्तर्गत ही आते हैं। सभी प्रकार की साधनाओं को मुख्य रूप से दो भागों में बाँटा जा सकता है:-

1) बर्हिमुखी साधन

2) आन्तरिक साधन

1) **बर्हिमुखी साधन**:- मनुष्य स्वभाव से चहल-पहल शोरगुल और भीड़-भाड़ पसंद करता है इसी लिये संसार में 99 प्रतिशत लोग ऐसे बाह्य साधनों की ओर आकृष्ट होते हैं। जप-तप, व्रत, तीर्थ यात्रा, कीर्तन, भजन, आरती, आसन, प्राणायाम आदि में मनुष्य अधिक रुचि लेता है। कोई भी साधन व्यर्थ नहीं जाता है। इन साधनों से केवल अध्यात्म की ओर चलने की प्रेरणा मिलती है और ईश्वर के रहस्य को समझने की इच्छा जाग्रत होती है। बर्हिमुखी साधनों से आत्मा के दिव्य प्रकाश को नहीं देखा जा सकता है। सार वस्तु तो अन्दर है और हम उसे बाहर ढूँढ़ रहे हैं।

2) **आन्तरिक साधन**:- जन्म जन्मान्तर से हमारी प्रवृत्तियाँ बर्हिमुखी रही हैं। हम बाहरी संसार की क्षणिक वस्तुओं में ही आनन्द तलाशते आये हैं। कभी हमने अपने अन्दर झांक कर देखने की कोशिश नहीं की। यदि हम बाहर से अपनी प्रवृत्तियों को समेट कर गुरु के शरणागत होकर अपने अन्दर फैले आनन्द के सागर को देखें तो हमारा जीवन ही बदल जायेगा। लालाजी साहब (महात्मा रामचन्द्र जी महाराज) और चच्चाजी महाराज ने कभी भी साधकों को पतंजलि के अष्टांग योग के यम, नियम, आसन और प्राणायाम में समय बरबाद नहीं कराया, सीधे धारणा, ध्यान और प्रत्याहार एवं समाधि की ओर ही लगाया जो कि आंतरिक साधन के अंग हैं। साधना हृदय से शुरु की जाती है। हृदय चक्र ही सब चक्रों का राजा है। नीचे के चक्रों में शिष्य को नहीं उलझाया जाता है। सदगुरु अपनी आत्मिक शक्ति को सीधे शिष्य के हृदय में प्रवेश कराता है।

साधना का उद्देश्य है हृदय की मलिनता को दूर करना, मन में उठते हुए संकल्प-विकल्पों को रोकना और वासनाओं के तूफान को नष्ट करना। सूफी सन्तों के अनुसार मनुष्य के अन्दर एक अध्यात्मिक हृदय होता है। इस हृदय से दो रास्ते फूटे हैं। एक भाग आन्तरिक हृदय (क़ल्ब) और दूसरा बाह्य हृदय (नफ़्स) कहलाता

है। आन्तरिक हृदय (क़ल्ब) हमें अध्यात्मिक और शाश्वत संसार (आलम-ए-बाला) की ओर ले जाता है। दूसरा रास्ता अर्थात् बाह्य हृदय (नफ़्स) हमें सांसारिक वासनाओं की ओर मोड़ता है जिसे आलम-ए-नासूत कहा जाता है।

आन्तरिक हृदय (क़ल्ब) की शक्ति का स्रोत है ईश्वर के प्रति प्रेम, ईश्वरीय ज्ञान, ईश्वर की मर्जी पर जीवन बिताना और हर समय उसकी याद। ईश्वर के प्रति प्रेम इस क़दर बढ़ जाता है कि मन सांसारिक वासनाओं की ओर देखता ही नहीं। ऐसी अवस्था आने पर ही हृदय पूर्ण पवित्रता (Purification of heart) हासिल करता है। इसे तस्फ़िया क़ल्ब कहते हैं।

दूसरी ओर बाह्य हृदय (नफ़्स) की यह विशेषता है कि वह मनुष्य का झुकाव सांसारिक वासनाओं (काम, क्रोध, लोभ, मोह, आदि) की ओर कर देता है। हमें साधना द्वारा इन वासनाओं को रोकना व नष्ट करना है तथा मन इधर से हटा कर ईश्वर की ओर मोड़ना है। इसे तज़किया नफ़्स कहते हैं।

सूफी सन्तों ने जज़्ब (ईश्वर प्रेम) और सुलूक (Divine Awareness) अर्थात् ईश्वरीय ज्ञान को बहुत महत्व दिया है। तज़किया नफ़्स की हालत बगैर जज़्ब के नहीं हो सकती है क्योंकि जब हृदय जज़्ब (ईश्वर के प्रति प्रेम) से भर जाता है तब वहाँ सांसारिक वासनाओं के रुकने के लिये जगह ही कहाँ बचती है। इसी प्रकार सुलूक (ईश्वर तत्व का ज्ञान) (Divine Awareness) का सम्बन्ध तस्फ़िया क़ल्ब (Purification of heart) से है। जब तक हृदय की मलिनता दूर कर उसे पवित्र नहीं बना लेते हैं तब तक उसमें ईश्वरीय ज्ञान (सुलूक) नहीं उतर सकता। इसीलिये सूफियों ने तस्फ़िया क़ल्ब को सुलूक और तज़किया नफ़्स को जज़्ब की संज्ञा दी है।

एक सदगुरु में जज़्ब व सुलूक दोनों का होना जरूरी है। केवल जज़्ब वाला व्यक्ति या केवल सुलूक हासिल करने वाला किसी को पूर्ण तालीम नहीं दे सकता है

। कुछ सुलूक को प्राथमिकता देते हैं और कुछ जज़्ब को। हमारे यहाँ के बुजुर्ग संतों ने जज़्ब (Divine Love) को पहले महत्व दिया है। साधक को प्रथम दिन ही प्रेम का छींटा दिया जाता है। आगे चलकर गुरु से प्रेम के इस रिश्ते को मजबूत करना पड़ता है। प्रेम की अग्नि में व्यक्ति के विकार भस्म होते हैं। आगे इसी प्रेम के माध्यम से ईश्वरीय ज्ञान (सुलूक) हासिल किया जाता है। प्रेम ही फ़नाइयत हासिल करने में सहायक होता है।

संसार में हर मनुष्य के सोचने का तरीका अलग-अलग है। मनुष्य पर देश, काल, पारिवारिक वातावरण, जलवायु आदि का प्रभाव पड़ता है। इसीलिये साधना की भिन्न-भिन्न पद्धतियाँ प्रचलित हैं परन्तु मकसद सब का एक ही होता है। गुरु शिष्य के स्वभाव, रुचि, घरेलू हालात, समय आदि को देखकर ही साधना की क्रिया बतलाते हैं। कभी-कभी तालीम देने के तरीके में परिवर्तन भी करना पड़ता है। साधना शुरू करने से पहिले कुछ हिदायतों को भी ध्यान में रखना आवश्यक है। वे इस प्रकार हैं:-

1) साधना तभी आरम्भ करनी चाहिये जब मनुष्यों को इस बात का अहसास हो जाये कि यह संसार नश्वर है व असली आनन्द सांसारिक वस्तुओं व वासनाओं में नहीं है। साधक दो नावों पर पैर नहीं रख सकता है। एक ओर वह सांसारिक वैभव में सुख व शान्ति ख़ोजे व दूसरी ओर ईश्वर तत्व को समझने की लालसा भी रक्खे।

2) साधना में श्रद्धा व विश्वास का सबसे अधिक महत्व है। गुरु में पूर्ण श्रद्धा व बतलायी हुई क्रिया में पूर्ण विश्वास होना चाहिये। शंकाग्रस्त साधक आगे नहीं बढ़ पाता है।

3) साधना में केवल अभ्यास ही काम नहीं देता है। साथ में वैराग्य की भावना भी लाजिमी है। अगर वैराग्य को साथ नहीं लिया गया तो साधक फिर मायाजाल

में फँस जाता है। वैराग्य का मतलब घरबार छोड़ना नहीं है। जंगल में जाने से वैराग्य सिद्ध नहीं हो पाता है क्योंकि असली संसार तो हमारे मन में है। इसका सही अर्थ है संसार की वस्तुओं में ममत्व का न होना। संसार में हमें हर काम निर्लिप्त भाव से करना होगा।

4) साधक में पूर्ण निष्ठा भाव, लगन, जिज्ञासा व दृढ़ निश्चय होना चाहिये।

5) गुरु द्वारा बतलाया गया साधन उनकी आज्ञा समझकर नियमपूर्वक निश्चित समय पर बहुत लम्बे काल तक करते रहना चाहिये। बीच में साधन छोड़ देने पर हमें कुछ भी लाभ नहीं मिलेगा।

6) साधना काल में सदैव गुरु से मिलते जुलते रहना चाहिये। पत्र-व्यवहार से सम्पर्क किया जा सकता है।

7) अपना अहँकार त्याग कर केवल गुरु के ही आश्रय हो रहने में ही शिष्य का कल्याण है।

8) सदैव अच्छे लोगों की सोहबत में उठना बैठना चाहिये। जैसे-जैसे साधक का हृदय निर्मल होता जाता है उसके लिये खतरा भी बढ़ता जाता है।

9) साधना की प्रारंभिक अवस्था में बहुत अधिक पुस्तकीय ज्ञान अर्जित करने का प्रयत्न नहीं करना चाहिये। इससे भ्रम व कुतर्क बुद्धि उत्पन्न होती है।

10) साधना को कर्मकांड समझकर नहीं करना चाहिये क्योंकि सच्ची साधना आन्तरिक साधन है इसका सम्बन्ध सीधा हृदय से है।

11) पूर्ण सफलता तभी मिल पाती है जब साधक गुरु को आदि से अन्त तक ईश्वर मिलन का ही माध्यम समझे।

12) साधक को नेक कमाई का ही भोजन करना चाहिये। भ्रष्ट व बेईमान तरिकों से कमाये गये धन से बुद्धि पतित होती है और वह साधना के लायक नहीं रह पाती है।

13) अध्यात्म मार्ग में उतावलापन, जल्दबाजी व अति (Excess) वर्जित है। ध्यान आधा घंटे से अधिक नहीं करना चाहिये। साधक को गुरु की परीक्षा लेने का भाव भी मन में नहीं लेना चाहिये। अपने को मिस्ल मुर्दा गुरु के सुपुर्द कर देना चाहिये।

14) साधक को पारिवारिक उत्तरदायित्व को निबाहते हुए ही साधना करनी चाहिये क्योंकि यह साधना मुख्य रूप से गृहस्थों के लिये ही है। संसार के सारे कार्य ईश्वरीय कर्तव्य समझकर बगैर ममत्व के करते रहना चाहिये।

साधक के लिये यह जानना अत्यन्त आवश्यक है कि जीवन भर एक ही प्रकार की साधना करते रहने से आत्मा पर चढ़े पंच कोशों को काटा नहीं जा सकता है। गुरु की कृपा बगैर इन कोशों को पार कर सकना नामुमकिन है।

अन्नमय कोश के साधन जप, भजन, व्रत, मूर्तिपूजा, तीर्थ यात्रा आदि हैं। हठयोग की क्रियाओं से प्राण वायु शुद्ध की जा सकती है। इसके अन्तर्गत, आसन, प्राणायाम, यम नियम आदि आते हैं। मनोमय कोष समीपत्व अर्थात हुज़ूरी से पार किया जा सकता है। इसका मुख्य साधन उपासना है। विवेक अर्थात् बुद्धि को जाग्रत एवं निर्मल बना कर हम विज्ञानमय कोश तय करते हैं इसी को ज्ञान योग कहते हैं। आनन्दमय कोष का साधन केवल समर्पण है।

सभी प्रकार की साधना प्रणालियों को हम तीन भागों में बांट सकते हैं।

1) **कर्मयोग**:- इसमें मनुष्य अपने को कर्त्ता समझता है और मन इन्द्रियों व शरीर को साथ लेकर साधना करता है। इसके अन्तर्गत हठयोग, तंत्र मंत्र, जप,

आसन, मुद्राएँ आदि आती हैं । इनसे शरीर भले ही स्वस्थ रहे परन्तु आत्म-दर्शन सम्भव नहीं है।

2) **उपासना योग**:- यह शुद्ध मन का साधन है। इसमें साधक यह समझता है कि हमारा इष्ट हमारे पास ही सामने बैठे है। इसमें साधक कर्मयोग की तरह अपने को कर्त्ता नहीं समझता है। इसमें शरीर व अन्य इन्द्रियों का भी कोई महत्व नहीं है। यह आन्तरिक साधन है। इसके अंग धारणा, ध्यान व प्रत्याहार है।

3) **ज्ञान योग**:- दीर्घ काल तक साधना करते-करते जब मन एकाग्र व शान्त हो जाता है तब यह साधन निर्मल बुद्धि से किया जाता है। इसके मुख्य साधन, स्वाध्याय, गुरु चिन्तन, सत्संग व विवेक व आत्म निरीक्षण है।

इसके बाद फिर साधक को कोई साधना करने की आवश्यकता नहीं है। सारी साधनाएँ यही पर समाप्त हो जाती हैं। इसके आगे फिर प्रेम व समर्पण की बारी है जिन्हें साधना की श्रेणी में नहीं रक्खा जाता है।

संतों ने उपासना के साधन में नाम जप का भी महत्व बतलाया है। भगवान कृष्ण ने गीता में कहा है कि "यज्ञानां जप यज्ञोऽस्मि" अर्थात यज्ञों में मैं जप यज्ञ हूँ। हृदय से तमोगुणी अन्धकार दूर कर उसमें दैवी प्रकाश भरने में नाम जप जल्दी फल देने वाला होता है। तुलसीदास ने कहा है:-

राम नाम मणि दीप धरु जीह देहरी द्वार ।
तुलसी भीतर बाहिरहु जो चाहसि उजियार ॥

नाम लेने पर इष्ट की याद आ जाना स्वाभाविक है। साथ ही उसका स्वरूप भी सामने आ जाता है। जाप ऐसा करना चाहिये कि उसमें कर्तापन का अभिमान न आने पावे। इसीलिये हृदय से किया गया जाप श्रेष्ठ है। वाणी व कंठ से किये गये जाप में कर्तापन का भाव बना रहता है। हृदय से किये गये जाप में या तो मन से

शब्द का उच्चारण किया जाता है या अन्दर हो रहे ध्वन्यात्मक शब्द को सुना जाता है। बिना नाम व रूप के मन को एक ध्येय में नहीं बांधा जा सकता है। जाप में दो अक्षरों का नाम ही श्रेष्ठ होता है।

सन्तों ने ॐ (ओम्) का जाप सबसे श्रेष्ठ माना है क्योंकि यह परमात्मा का जाती नाम है अर्थात् सृष्टि के आरम्भ में शब्द रूप जो प्रकट हुआ वेदों ने उस आदि शब्द को ॐ का नाम दिया। सूफी उसे हू कहते हैं। सिफ़ाती नामों का भी जाप किया जा सकता है अर्थात् परमात्मा के वे नाम जो गुणों के आधार पर रक्खे गये हैं। ओम् का जाप प्रणव उपासना से भी सम्बन्धित है। प्रणव का अर्थ ही ओम् है। प्रणव का मतलब है जीवन देने वाला। इस जगत का निर्माण आदि शब्द से ही प्रारम्भ हुआ। शब्द ने जगत को प्राण व जीवन दिया इसीलिये इसे प्रणव कहा गया। सन्तों ने इसे ध्वन्यात्मक शब्द कहा क्योंकि यह ध्वनि अर्थात् सर्वप्रथम आत्मा से प्रकट हुआ। ऋषि मुनियों ने अपनी समाधि अवस्था में इस शब्द को सुनने की कोशिश की तो उन्हें वह ध्वनि ॐ जैसी लगी तभी से ईश्वर को ओम् कहा जाने लगा और प्रणव उपासना ओम् की ही उपासना है। ओम् की इस ध्वनि को रोम-रोम से सुनना ही प्रणव उपासना है। पहले इसे हृदय में सुना जाता है फिर निरोधावस्था में इसे शरीर के अंग-अंग और अन्त में रोम-रोम से यह ध्वनि सुनी जा सकती है। यह साधना की सबसे उच्च अवस्था है जो बिरलों के भाग्य की चीज है। सूफी इसी प्रणव ध्यान को सुलतानुल अज़कार कहते हैं अर्थात जापों का राजा। परन्तु उनके अनुसार प्रणव में ॐ के स्थान पर हू की ध्वनि निकलती है।

लालाजी साहब (महात्मा रामचन्द्र जी महाराज) के अनुसार हर प्रकार के जाप की शुरुआत गुरु की याद से करनी चाहिये। फिर ईश्वर के दिव्य तेजोमय स्वरूप को अपने सामने लाने और हर बार नाम या जप के साथ ऐसा ख्याल करें कि जीवात्मा शरीर से अलग होकर उसी दिव्य प्रकाश में लय होती जा रही है। इस प्रकार जाप करने से साधक को सारूप्य की स्थिति जल्दी प्राप्त होती है। साथ ही

साथ अनलहक़ (मैं ही ब्रह्म हूँ) और इन्नलहक़ (तू ही तू है) की स्थिति भी हासिल होती है। फ़नाइयत जल्दी हासिल करने के लिये कभी-कभी दिव्य प्रकाश के स्थान पर महाशून्य को लेते हैं और जाप के साथ ऐसी कल्पना करते हैं कि हमारा शरीर व यह जगत महाशून्य में समाता जा रहा है। हमारा अस्तित्व समाप्त हो रहा है और हम फना अर्थात मिट रहे हैं। इससे अहँ व ममत्व की भावना जल्दी नष्ट होती है।

जाप कई प्रकार के होते हैं:- एकमुखी, द्विमुखी, त्रिमुखी व चतुर्मुखी आदि। लाला जी साहब को चतुर्मुखी जाप बहुत पसंद था। इसे वे अपने गुरु महाराज की आज्ञानुसार हमेशा करते रहे। उनका कहना था कि इस जाप से मार्ग में आने वाली रुकावटें दूर होती हैं व आत्मिक शान्ति मिलती है। यों हर प्रकार का जाप मन को नियंत्रण करने में सहायक होता है। हम जाप की विस्तृत विधि यहाँ पर नहीं लिख रहे हैं क्योंकि जाप किताबों में पढ़ कर या किसी से सुन कर नहीं करना चाहिये। इसे अपने गुरु के सामने प्रत्यक्ष बैठ कर ही सीखना चाहिये।

सूफियों में जाप को जिक्र कहा जाता है। जिक्र जली मुख से किये गये जाप को कहते हैं और जिक्र ख़फी हृदय से किये गये जाप को कहते हैं। इस साधना पद्धति में प्रेम, भक्ति व गुरु के शरणागत होना ही मुख्य बात है। जाप केवल मालिक की हुज़ूरी में मददगार होने के नाते एक सीमा तक ही किया जाता है। सूफियों के अनुसार जाप एक बेजान चीज नहीं है। जाप करते समय सारे शरीर में एक बिजली सी दौड़ जाती है।

उपासना मालिक की हुज़ूरी का साधन है इसमें ईश्वर, गुरु या अपने इष्ट को पास से पास अपने सामने बैठा समझ के साधना की जाती है। इसीलिये इसमें स्तुति, प्रार्थना व सत्संग का विशेष महत्व है। सत्संग बर्हिमुखी न होकर अर्न्तमुखी होना चाहिये।

शास्त्रों में भक्ति के बताये गये भेदों में आत्म निवेदन सबसे ऊँची व जल्दी फल देने वाली भक्ति है। यह भी उपासना का ही एक साधन है। इसमें साधक अपने को हर तरफ से अलग कर केवल गुरु अथवा ईश्वर सहारे अपने को छोड़ देता है। अपना अहँ त्याग वह पूरी तरह से ईश्वर के आश्रित हो जाता है उसी के द्वार पर वह प्रतीक्षा करता है। संसार के हर पदार्थ व हर नाते रिश्ते से अपने चित्त को हटा कर केवल मालिक की ही मर्जी पर अपने को छोड़ देता है। यही ईश्वर प्रणिधान या ईश्वर परायण होना कहा जाता है।

पंचम अध्याय

आत्मा पर पंचकोशों का आवरण

मनुष्य भ्रमवश एवं अज्ञान के कारण यह प्रश्न पूछता रहता है कि जीवात्मा परमात्मा का अंश होते हुए भी सदैव दुखी क्यों रहता है। ईश्वरीय गुणों से विभूषित होते हुये भी इसका झुकाव सदैव सांसारिक कामनाओं की ओर ही क्यों रहता है। वास्तव में ऊँचे दर्जे के साधक ही यह रहस्य समझ पाते है कि आत्मा पूरी तरह से निर्लिप्त है। सुख-दुख, राग-द्वेष, काम-क्रोध आदि का सम्बन्ध मन व बुद्धि द्वारा की गयी व्याख्या से है। यह सब माया के खेल हैं। आत्मा इन सबसे अलग है। जैसे-जैसे जीवात्मा सृष्टि के क्रमिक विकास में अपने भंडार अर्थात् परम सत्ता से दूर होती गयी, उस पर माया के आवरण एक के बाद एक चढ़ते गये और उसका प्रकाश माया रूपी अंधकार के आवरणों से धुँधला होता गया। तैत्तरीय उपनिषद में माया के इन खोलों को पंच कोश का नाम दिया गया है। ये हैं आनन्दमय, विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय एवं अन्नमय कोश। साधना के पथ पर आगे बढ़ने के लिये हमें इन आवरणों को समझना आवश्यक है।

सृष्टि रचना से पहले वह परम सत्ता (परम ब्रह्म) अपनी महान चैतन्य एवं प्रकाशवान स्थिति में स्वयं अपने में ही लीन थी। न जाने कब उसकी मौज आ गई और उसकी इच्छा जाग्रत होने पर उसमें से एक धारा शब्द अथवा ध्वनि के रूप में प्रवाहित हुई। इसे शब्द ब्रह्म के नाम से वेदों तथा उपनिषदों में कहा गया है। संतों ने इसे सुरत की धार कहा है। यह धार जैसे-जैसे परम चैतन्य सत्ता से दूर होती गयी, इस पर माया के खोल चढ़ते गये। परम पूज्य चच्चाजी महाराज के अनुसार यह माया का खोल उस आत्मा की धार से अलग कोई सत्ता नहीं है। आत्मा पर माया का खोल उसी प्रकार चढ़ता जाता है जैसे दूध पर मलाई की तह पर तह जमती जाती है। संतों ने इस सुरत की धार को प्रकाश की धार भी कहा है। यह सुरत

अथवा आत्मा की धार जो शब्द या प्रकाश के रूप में पहले ऐसा घेरा अथवा मंडल बनाती है जिसमें उस चैतन्य सत्ता का पूर्ण प्रकाश रहता है। इसी क्षेत्र को संतों ने सत लोक या आनन्दमय कोश की संज्ञा दी है। सुरत (आत्मा) की धार यही पर रुक नहीं जाती है। यहाँ से फिर नीचे उतर कर एक और क्षेत्र का निर्माण करती है। इसे ब्रह्माण्ड कहा जाता है। इस क्षेत्र में माया अत्यन्त सूक्ष्म एवं निर्मल रूप में मौजूद रहती है। इसे निर्मल चैतन्य या निर्मल माया का देश कहा जाता है। यहाँ से नीचे उतरते हुए माया अथवा प्रकृति का स्थूल रूप प्रकट होने लगता है। अब पाँच तत्व (पृथ्वी, आकाश, जल वायु व अग्नि) एवं तीन गुण (सत, रज, तम) स्थूल, सूक्ष्म व कारण शरीर की रचना होने लगती है। इसे संतों ने पिंड क्षेत्र का नाम दिया है। मानव शरीर को पिंड शरीर कहा है। मनुष्य के इस पिंड शरीर में वह सब कुछ सूक्ष्म रूप से विद्यमान है जो सृष्टि रचना में उस परम सत्ता से लेकर इस पिंड क्षेत्र तक अनन्त क्षितिज में विद्यमान है। समर्थ गुरु की कृपा से हम फिर नीचे से ऊपर की ओर चढ़ाई करते हुये पिंड क्षेत्र, ब्रह्मलोक व सत लोक को पार करते हुए फिर उस चैतन्य परम सत्ता में अपने को लय कर सकते हैं जहाँ से कि हम आये थे। इस क्रिया को सुरत शब्द योग कहते हैं।

सृष्टि रचना की इस प्रक्रिया को विस्तृत रूप से समझाते हुये संतों ने आत्मा के ऊपर चढ़े हुए इन आवरणों की विवेचना की है। इन्हें पंच कोश कहा गया है। ये हैं - आनन्दमय. विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय, और अन्नमय कोश।

आनन्दमय कोश:- आत्मा पर पहला आवरण आनन्दमय कोश का चढ़ता है। इस अवस्था में चेतन आत्मा अत्यन्त प्रकाशमय एवं आनन्द की स्थिति में रहती है। चेतन परम सत्ता से निकल कर सुरत अथवा प्रकाश की धार ने एक गोलाकार मंडल बनाते हुए उसे घेर लिया और पूरे क्षेत्र को प्रकाशित कर दिया। आत्मा ने इस प्रकाश में अपने स्वरूप को देखा और आत्म विभोर हो गयी। उसने अपने को पहिचाना कि वह एक दिव्य तेज है और आनन्द में डूब गयी। इसीलिये इस कोष को

आनन्दमय कोश कहते हैं। इसे समझने के लिये हम बिजली के बल्ब का उदाहरण लेते हैं। बल्ब के अन्दर एक महीन फिलामेन्ट (तार) होता है, एक शीशे का खोल और तार व खोल के बीच में आकाश तत्व विद्यमान है। बिजली का न कोई रूप, रंग न शक्ल। केवल उसकी निराकार शक्ति को तभी जाना जा सकता है जब बल्ब के अन्दर के तार से उसका सम्बन्ध हो। ऐसा सम्बन्ध होने पर तार एकदम जल उठता है और उसके चारों ओर का क्षेत्र प्रकाशित हो उठता है। ऐसे ही हम आत्मा की शक्ति से परिचित होते हैं। उसके रूप रंग से नहीं। आनन्दमय कोष का प्रकाश सुनहले रंग का है इसमें बहुत हल्के आसमानी रंग की झलक देखने को मिलती है। इस कोष में सत, चित व आनन्द की प्रधानता है। माया का प्रभाव यहाँ पर शून्यवत् है।

विज्ञानमय कोश:- आनन्दमय कोश के दिव्य प्रकाश में आत्मा को अपने स्वरूप का ज्ञान हुआ। यह ज्ञान होते ही कि 'मैं हूँ, एक दूसरी धार निकल कर उसके चारों ओर एक और घेरा बना लिया। यह बुद्धि एवं अहँकार का पर्दा था। इस क्षेत्र को विज्ञानमय कोष कहते हैं। सन्तों ने इस दूसरी धार को महत्व की संज्ञा दी। इस कोष का रंग तेज सफेद है। आनन्दमय महाकारण व विज्ञानमय कारण अवस्था कहलाती है। जो व्यक्ति नीचे से चढ़ाई करके इन स्थानों पर पहुंच जाता है वह आवागमन के चक्र से छूट जाता है। पूज्य चच्चा जी महाराज ने विज्ञानमय कोष को 'उलटी समझ' कहा है क्योंकि जो मनुष्य मनमुख होते हैं, बुद्धि एवं अहँकार के चक्कर में आकर सत-असत, उचित-अनुचित का सही निर्णय नहीं ले पाते हैं और इस स्थान पर पहुंच कर उनमें श्रद्धा-विश्वास की कमी होने लगती है और अपने रूहानी सफर में भटक जाते हैं। इस स्थान के प्राणी में सत व आनन्द गायब हो जाते हैं। केवल चित ज्ञान की प्रधानता रहती है।

मनोमय कोष:- ज्ञान के उदय होते ही विचारों का प्रवाह शुरु हो गया। सैकड़ों प्रकार के संकल्प-विकल्प उठने लगे। वह धार फिर आगे बढ़ी और आत्मा

के चारों तरफ एक मंडल और बना लिया। यह मनोमय कोष कहलाया। अब आत्मा पर मन तथा ज्ञानेन्द्रियों का आवरण चढ़ गया। मन के सभी क्रिया कलाप इसी कोश के अन्तर्गत आते हैं। पुराणों के अनुसार विज्ञानमय कोष में काम करने वाली वृत्ति को ब्रह्माण्डीय बुद्धि (शिव) व मनोमय कोष में काम करने वाली वृत्ति को ब्रह्माण्डीय मन (ब्रह्मा) कहते हैं। इस मंडल का प्राणी संकल्प-विकल्प में पड़ा रहता है। उसका मन उसे सदैव एक वस्तु से दूसरी वस्तु तक भटकाता रहता है। सांसारिक वासनायें व इच्छायें इस कोष की प्रधानता है। शान्ति पाने की इच्छा तो है परन्तु मन उसे किसी एक वस्तु पर टिकने नहीं देता है। इस कोष के प्राणी में सत चित (ज्ञान) व आनन्द गायब हो जाता है। वह केवल मानसिक वेदना से पीड़ित रहता है। इस स्थान के प्रकाश में कालिमा मिली हुई है। इस स्थान को पार करने में सबसे अधिक समय लगता है।

प्राणमय कोष:- आत्मा पर चौथा आवरण प्राणों का पड़ता है। हमारे शरीर की आंतरिक संरचना जैसे पाचन क्रिया, श्वास क्रिया, व रक्त प्रवाह आदि प्राण शक्ति द्वारा संचालित हो रही है। इसीलिये इसे प्राणमय कोष कहा जाता है। विज्ञानमय, मनोमय एवं प्राणमय कोश तीनों मिलकर सूक्ष्म शरीर कहलाते हैं। यहाँ पर प्राणियों की मन एवं बुद्धि की शक्तियाँ पूरी तरह अंधकार में डूब जाती है। विचार शक्ति नष्ट हो जाती है। परिश्रम करने की क्षमता भी नष्ट हो जाती है। ज़ंजीरों में जकड़े हुए व्यक्ति या पंख बंधे हुए पक्षी की तरह केवल व्यथा व क्लेश रह जाता है। शास्त्रों में इसे नरक की संज्ञा दी गयी हैं।

अन्नमय कोश:- आत्मा के ऊपर अंतिम कलेवर स्थूल शरीर का है। इसके क्रिया कलापों को प्रत्यक्ष देखा व अनुभव किया जा सकता है। इस कोष का रंग काला है। प्रकाश न के बराबर है। यहाँ का जीव पूरी तरह से संसार में लिप्त है। अनन्त इच्छाओं व वासनाओं में व्यक्ति का जीवन नष्ट होता रहता है। उसे अपने

दुखों को दूर करने की इच्छा भी नहीं होती है। ऐसे जीव को आवागमन के चक्र से कभी मुक्ति भी नहीं मिल पाती है।

यह पंच कोष भी माया का ही पसारा है। अन्नमय कोष में पृथ्वी तत्व, प्राणमय कोष में जल तत्व, मनोमय कोष में अग्नि तत्व, विज्ञानमय में वायु तत्व और आनन्दमय कोष में आकाश तत्व की प्रधानता रहती है। मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह गुरु कृपा से माया के इन पांच मण्डलों को पार कर उस महान चैतन्य परम सत्ता में अपने को लय कर दे जहाँ से कि उसकी यात्रा प्रारम्भ हुई थी। परन्तु संसार में देखा यही जाता है कि जीव इन पंच कोशों का प्रयोग केवल सांसारिक विषय भोगों के लिये ही करता रहा है।

प्रत्येक कोष की शुद्धि के लिये साधन अलग-अलग हैं। एक ही प्रकार के साधन से सारे कोष नहीं पार किये जा सकते हैं। पूज्य चच्चा जी महाराज ने अन्नमय शरीर को सतगुरु में लय करने के लिये निम्नलिखित साधन बतलाये हैं:-

1) **मूर्ति पूजन**:- इसमें गुरुदेव की मूर्ति को अपने हृदय में इस प्रकार बसाते हैं कि अपने अस्तित्व का ज्ञान ही न रहे।

2) **ग्रन्थि पूजन**:- इसमें सतगुरु को ग्रहण कर ले कि हृदय में विषय वासनाओं के लिये कोई स्थान न बचे।

3) **कार्तिक पूजन**:- इसमें सतगुरु को रोम-रोम में बसाना पड़ता है।

4) **घृति पूजन**:- इसमें सतगुरु को दृढ़ता से पकड़ मायावी शक्तियों व चमत्कारों से दूर रहना पड़ता है।

आगे उन्होंने प्राणमय कोष को पार करने के लिये निम्नलिखित साधन बतलाये हैं।

1) **धैर्य पूजन**:- यहाँ पर एक प्रकार से साधक के धैर्य की भी परीक्षा हो जाती है। जैसे-जैसे वह सतगुरु के सत्संग का लाभ उठाता है उसे यह विश्वास होने लगता है कि उसे गुरु ने स्वीकार कर अपना लिया है।

2) **शरणागत पूजन**:- इसमें साधक को मन वचन व कर्म से गुरु प्रति पूरी तरह से समर्पित होना पड़ता है।

3) **साष्टांग पूजन**:- जब धीरे-धीरे समर्पण की भावना प्रगाढ़ एवं पुष्ट हो जाती है और साधक के भटकने का भय नहीं रह जाता है तो यही अवस्था साष्टांग पूजन कहलाती है।

इन तीनों पूजनों से गुरु के प्रति प्रेम का संबंध दृढ़ हो जाता है। हर स्वाँस में उनकी याद बनी रहती है। चूँकि स्वाँस प्रक्रिया का सम्बन्ध प्राणों से होता है। इसलिये इन तीनों पूजनों से प्राणमय कोष पार किया जा सकता है।

पूज्य चच्चा जी महाराज ने मनोमय कोष के पार कराने वाले साधन का नाम मनोरमाय पूजन की संज्ञा दी है। अन्नमय कोष व प्राणमय को शुद्ध करने वाले पूजनों के करते हुए साधक अब इस स्थिति में पहुंच जाता है कि बिना किसी प्रयत्न के उसका मन गुरु ध्यान में स्वतः ही लगने लगता है। इस प्रकार विचारों की चंचलता व संकल्प विकल्पों पर विराम लग जाता है। साधक पूर्णरूपेण गुरु ध्यान में ही लीन रहता है।

विज्ञानमय कोष में बुद्धि एवं अहँकार की प्रधानता रहती है। इसको पार करने का साधन ज्ञान पूजन है। यदि हम अपने को देखें तो यही पायेंगे कि हमारी बुद्धि एवं अहँकार हमें सदैव सांसारिक वासनाओं की ओर घसीटते हैं और हम मार्ग से भटक कर ईश्वर से दूर होते जाते हैं। अतः हमें अपनी बुद्धि एवं अहँकार को भी गुरु के चरणों में समर्पित कर देना चाहिये और हमें गुरुमुख होकर हर प्रकार से उनके आदेशों के अनुसार ही चलना चाहिये।

इन कोशों को पार कर जब साधक अन्त में आनन्दमय कोश में प्रवेश करता है तो मन बुद्धि व अहँकार आदि से अपने को मुक्त पाता है और अपूर्व आनन्द में डूबा रहता है। इस सात्विक आनन्द में भी माया का एक झीना आवरण बना रहता है। अहँकार भी सूक्ष्म व सात्विक रूप में बना रहता है। सात्विक वृत्तियाँ भी बंधन ही है। पूज्य चच्चा जी महाराज ने इस मंडल को पार कराने वाले साधन को मानसिक पूजन कहा है। इसमें चित्त को संसार से हटा कर पूरी तरह से ईश्वर पारायण होना पड़ता है। उसी के पूर्णरूपेण आश्रित होना पड़ता है। हर समय उसके प्रेम की भिक्षा माँगते रहना चाहिये। इस प्रकार की साधना को आत्म निवेदन व ईश्वर प्रणिधान के नाम से भी जाना जाता है।

इस अवस्था में निरन्तर बने रहने के लिये सूफी संतों ने दो अभ्यास बताये हैं:-

4) **निगाह दास्त**:- इस अभ्यास में हमेशा अपने मन को देखते रहना चाहिये क्योंकि आनन्दमय कोष में आते ही अपूर्व आनन्द का स्वाद मिलते ही मन में सूक्ष्म अहँकार पैदा होने की संभावना बढ़ जाती है। ऐसे में साधक मार्ग से भटक सकता है। इस स्थिति से बचने के लिये हर समय अपने लक्ष्य अर्थात ईश्वर प्राप्ति को ध्यान में रखना चाहिये और ईश्वर से दीनता पूर्वक प्रार्थना करते रहना चाहिये कि तेरी इच्छा ही मेरी लिये सब कुछ है। तेरी रजा में मैं राजी हूँ। मुझे संसार नहीं केवल तू ही चाहिये।

5) **बाजगस्त**:- ऐसी लगातार की जाने वाली प्रार्थना को बाजगस्त का अभ्यास कहते हैं।

पाँच कोषों की तरह पांच प्रकार की आत्माओं का भी जिक्र आता है। जिस व्यक्ति की आत्मा में जिस कोष का अधिक प्रभाव रहता है उसकी आत्मा को उसी नाम से जाना जाता है। यदि कोई व्यक्ति अपना सारा जीवन अपने स्थूल शरीर के

पालन पोषण, उसकी देखभाल व हिफाजत में बिताता है तो उसे अन्नमय आत्मा कहा जायेगा। प्राणायाम व यौगिक क्रियाओं के द्वारा अपनी प्राण शक्ति को नियंत्रित करने वाले प्राणी की आत्मा को प्राणमय आत्मा कहा जायेगा। जो प्राणी पूरी तरह मनमुख होता है और मन की इच्छाओं व सांसारिक कामनाओं को पूरा करने में ही जीवन व्यतीत करता है उसे मनोमय आत्मा कहा जायेगा इसी प्रकार विज्ञानमय व आनन्दमय के विषय में कहा जा सकता है।

साधक को यह कभी नहीं भूलना चाहिये कि सारे कोष माया के ही फैलाव हैं और यदि उसे किसी समर्थ गुरु की कृपा नहीं मिली तो वह अपने निज प्रयत्नों से उन्हें पार नहीं कर सकता है। मार्ग की बाधाएँ स्थूल व सूक्ष्म हैं और वह उनमें भटक कर अपना जीवन व्यर्थ गवाँ देगा।

षष्ठम अध्याय

ईश्वर दर्शन का रहस्य

रूहानी इल्म के कुछ ऐसे रहस्य हैं जिन्हें साधक के लिये जानना बहुत जरूरी है नहीं तो अन्त तक वह भ्रम में ही पड़ा रहता है। ये रहस्य ईश्वर दर्शन के वास्तविक स्वरूप से सम्बन्धित हैं। अन्त में कौन किस का दर्शन करता है। किस का मिलन किस से होता है। सच्चाई यह है कि 'मनुष्य' के लिये ईश्वर दर्शन असम्भव है। परमात्मा से उसका मिलन कभी नहीं हो सकता है। जिसे हम मनुष्य या इंसान कहते हैं वह केवल सांसारिक इच्छाओं व वासनाओं का पुतला मात्र है। क्या ऐसा मनुष्य कभी ईश्वर दर्शन कर सकता है? शास्त्रों में कहा गया है कि ब्रह्म ही ब्रह्म का दर्शन करता है। जब तक मनुष्य ब्रह्म पद हासिल नहीं कर लेता है, जब तक वह स्वयं ईश्वर नहीं बन जाता है उसके लिये दर्शन सम्भव नहीं है। इस पद तक पहुंचाने का कार्य गुरु का है।

गुरु से शक्ति लेकर जब साधक रूहानी सफर पर आगे बढ़ता है और उनसे लगातार सम्पर्क बनाए रखते हुए उनकी बताई हुई साधना लगातार करता रहता है तो धीरे-धीरे उसके मल, आवरण व संस्कार कटने लगते हैं। गुरु कृपा से एक समय ऐसा आता है जब उसका हृदय पूर्णरूप से निर्मल होकर विकार रहित व संकल्प-विकल्प से मुक्त हो जाता है। ऐसे निर्मल हृदय में ही साधक गुरु के प्रकाश में अपने वास्तविक स्वरूप का दर्शन करता है। उसे इस बात का ज्ञान हो जाता है कि वह ईश्वर का अंश है।

मैं और तू यानी जीव और ईश्वर कहने को तो दो है परन्तु असलियत में एक ही हैं। मनुष्य अज्ञानवश सूर्य और उसके प्रकाश को चीनी और उसकी मिठास को, समुद्र और उसकी लहर को अलग-अलग वस्तुएँ समझता है लेकिन दर असल वे एक ही हैं। इसी प्रकार जीव और ईश्वर कहने को अलग हैं परन्तु आध्यात्मिक

अनुभव के स्तर पर एक परमात्मा ही है। ऊँची स्थिति में पहुँचे हुए साधक को अन्त में यही कहना पड़ता है 'अहँ ब्रह्मास्मि' अर्थात मैं ही ब्रह्म हूँ। इस स्थिति में पहुँचे हुये साधक को हम मनुष्य नहीं कह सकते हैं। यह जान लेने पर कि उसका असली स्वरूप परमात्मा का ही है, वह मनुष्य नहीं रह जाता है। इस प्रकार अन्त में दर्शन ईश्वर ही ईश्वर का करता है। जब दर्शन का समय आता है तब वह मनुष्य न रहकर परमात्मा का ही स्वरूप हो जाता है।

दूसरा गूढ़ रहस्य ईश्वर दर्शन के स्वरूप में सम्बन्धित है। साधक के मन में यह प्रश्न स्वाभाविक है कि दर्शन के समय हमें क्या दिखाई देता है। क्या ईश्वर का कोई साकार स्वरूप है जिसका कि हम दर्शन करते हैं। साधकों का भ्रम तब और बढ़ जाता है जब हम पढ़ते हैं कि तुलसीदास जी ने धर्नुधारी राम के रूप में परमात्मा का दर्शन किया था। मीरा ने बंसी वाले कृष्ण का दर्शन किया था। रामकृष्ण परमहंस के सामने स्वयँ माँ जगदम्बा देवी रूप में प्रकट होकर उनसे बातें भी करती थी। ईश्वर के उपासकों को हम दो भागों में बाँटते हैं। निराकार उपासक ईश्वर के निराकार स्वरूप को ठीक समझकर उसकी उपासना में लग जाते हैं। साकार उपासक उसके बाहरी स्वरूप की कल्पना कर उसमें अपना मन लगाते हैं। जब तक हम किसी न किसी रूप पर धारणा नहीं करते हैं तब तक हम अपने मन में स्थिरता नहीं ला सकते हैं। इसीलिये निराकार उपासक को भी ईश्वर का कोई न कोई रूप लेकर उस पर अपना ध्यान पुख्ता करना पड़ता है। शास्त्रों में आया है कि निराकार ब्रह्म इस संसार में शब्द या प्रकाश के रूप में प्रकट हुआ है। उपासक शब्द या प्रकाश में से किसी एक को चुन कर आगे बढ़ता है। शब्द उपासकों के हृदय में वह परम चैतन्य सत्ता अनहद नाद के रूप में प्रकट होती है जबकि प्रकाश पर ध्यान करने वाले के हृदय में दिव्य तेज के रूप में प्रकट होती है। यह मनोमय कोश में निराकार उपासक का प्रथम दर्शन कहा जाता है। यह ध्यान की अवस्था में या स्वप्न की अवस्था में क्षणिक होता है। ऐसा दर्शन स्थायी नहीं रहता है।

साकार उपासक ईश्वर के किसी रूप की कल्पना कर उस पर धारणा पुख्ता करते हैं। लम्बे समय तक लगातार इस कल्पित रूप पर धारणा व ध्यान करने से एक दिन वह मूर्ति आँखों के सामने प्रत्यक्ष प्रकट हो जाती है। "जाके मनहिं भावना जैसी। प्रभु मूरत देखी तिन तैसी ॥" तुलसीदास मीरा व रामकृष्ण परमहंस के उदाहरण हमारे सामने हैं। उन्होंने अपने-अपने इष्ट देवता के दर्शन अपनी भावना व कल्पना के अनुसार ही किये। विज्ञानमय कोश में पहुंचने पर पहले तो साधक के अन्दर द्वैत भाव रहता है। मैं और तू का भेद नहीं मिटता है। वह अनुभव करता है कि एक चैतन्य सत्ता कण-कण में मौजूद है। उसके भीतर व बाहर की प्रत्येक वस्तु में एक ही चैतन्य आत्मा फैली हुई है। ऐसा अनुभव होते ही साधक कह उठता है 'तत्वमसि' अर्थात तू ही तू है इसके अलावा और कुछ नहीं है। ऐसा दर्शन कभी थोड़े समय के लिये होता है और कभी यह अवस्था काफी लम्बे समय तक चलती रहती है। आगे चलकर, एक समय ऐसा आता है जब साधक 'अहँ ब्रह्मास्मि' का अनुभव करता है अर्थात् मैं ही ब्रह्म हूँ। 'तू ही तू' नहीं बल्कि 'मैं ही मैं हूँ'। इस सृष्टि की रचना मैंने ही की है और कण-कण में मैं ही व्याप्त हूँ। इस स्थिति में आते ही द्वैत जाता रहता है। 'मैं' और 'तू' मिलकर एक हो जाते हैं। साधक हर समय एक जज़्बे की हालत में रहता है। इन अवस्थाओं का अनुभव करना केवल एक आध ही की किस्मत में होता है।

'तत्व मसि' व 'अहँ ब्रह्मास्मि' की अवस्थायें भी असली दर्शन नहीं है। यह बीच के हालात है। जो साधक इसी को सब कुछ समझ लेते हैं उनकी आगे की उन्नति रुक जाती है। समर्थ गुरु अपने ऐसे पहुँचे हुए साधक को यहाँ पर रुकने नहीं देते हैं। वे उसे या तो आगे बढ़ा देते हैं या कुछ पीछे उतार देते हैं। ऐसा होने पर साधक की मस्ती व जज्बा समाप्त हो जाता है।

साधक को तीसरे दर्शन का अनुभव आनन्दमय कोश में होता है। परन्तु यहाँ पर उस परम चैतन्य सत्ता के असली स्वरूप पर माया का एक हल्का पर्दा रहता है।

यहाँ पर साधक यह अनुभव करता है कि न द्वैत है न अद्वैत है बल्कि दोनों हैं। सूक्ष्म और स्थूल का भेद मिट जाता है परन्तु नाम व रूप की भावना यहाँ भी नहीं मिटती है। हल्के आसमानी रंग वाले श्वेत दिव्य तेज का दर्शन होता है और मुग्ध होकर उसी में समा जाना चाहता है।

आनन्दमय कोश के अनुभव को भी असली दर्शन नहीं कहा जा सकता है। असली दर्शन माया से परे की चीज है। वहाँ नाम व रूप समाप्त हो जाता है। सत, रज, तम अपना कार्य करना बन्द कर देते हैं। वहाँ केवल परम चैतन्य सत्ता का ही पसारा है। न नाम है न रूप है, अगम व अगोचर है, पूर्ण रूप से निर्विकार है। आनन्दमय कोश का दर्शन भी माया से परे नहीं है। यहाँ पर भी शुद्ध सतोगुण का एक झीना आवरण रहता है।

जब तक शरीर का बन्धन है माया से परे का यह चौथा दर्शन अब तक किसी को भी नहीं हो पाया है। लाला जी साहब ने भी अपने शिष्यों को इस दर्शन के विषय में कुछ भी नहीं बताया क्योंकि उस अवस्था का ज्ञान केवल शरीर का बन्धन तोड़ने पर ही हो सकता है। मृत्यु के बाद ही वह परम आनन्द प्राप्त किया जा सकता है। कबीर साहब ने फरमाया है:-

जा मरने से जग डरे, मोही बड़ो आनन्द।
कब मरिहों, कब पाइयो, पूरन परमानन्द॥

लाला जी साहब ने यह फरमाया था कि जिस्म के रहते हुए माया के गुणों का बन्धन रहता है। जिस्म में रहते हुए रूह के लिये ज्यादा काम करना मुश्किल है। शरीर त्यागने के बाद रूह माया के बन्धनों से आजाद हो जाती है और सन्तों की आत्मा शरीर छोड़ने पर अपने प्रेमी जनों की ज्यादा मदद कर सकती है। कबीर साहब ने मरने के बाद जिस पूर्ण परमानन्द का जिक्र किया है उसे पुराणों में सायुज्य मुक्ति नाम दिया गया है। जिसके बारे में कोई वर्णन नहीं हो सकता है। सालोक्य,

सामीप्य व सारूप्य अवस्थाएँ आनन्दमय कोश की हैं जो माया की सीमा के अन्दर ही हैं। चौथी सायुज्य अवस्था माया से आगे की अवस्था है जो शरीर त्यागने पर नसीब में आती है।

ईश्वर दर्शन के विषय में अब तक जो कुछ लिखा गया है वह है सब साधक की भावना व कल्पना का ही खेल। वास्तव में ईश्वर एक शक्ति है जिसकी उपस्थित एवं शक्ति का केवल एहसास ही किया जा सकता है। उसके साकार रूप का दर्शन नहीं हो सकता है। बिजली तारों में दौड़ रही है हम उसे देख नहीं सकते। जब बल्ब जलाया जाता है तो हमें उसकी उपस्थित का पता चलता है और जब उससे कल-कारखाने चलते हैं तो हमें उसकी शक्ति का पता लगता है। ईश्वर दर्शन का सही अर्थ है उस परम चैतन्य सत्ता की उपस्थित एवं शक्ति का एहसास। साधक जब पूर्णरूप से गुरुमुख होकर आगे बढ़ता है तो एक समय ऐसा आता है जब उसे ब्रह्माण्ड के कण-कण में, हर जड़ एवं चेतन पदार्थ में उस परम चैतन्य सत्ता की उपस्थिति का अनुभव करता है जिसे तुलसीदास जी ने यह कह कर व्यक्त किया है "सिया राममय सब जग जानी।" सारा संसार ही उन्हें राममय दिख रहा था। जब तक यह दृष्टि नहीं मिलती है तब तक ईश्वर दर्शन नहीं कहा जा सकता है। साधक प्रत्यक्ष यह अनुभव करता है कि कोई शक्ति अपने निर्विकार रूप में इस ब्रह्माण्ड को चला रही है।

ज्योंही साधक को उस दैवी सत्ता की उपस्थिति एवं शक्ति का इस प्रकार अनुभव होता है उसका आन्तरिक रुपान्तरण (Inner Transformation) होने लगता है क्योंकि उसने अब अपने निज स्वरूप को जान लिया है कि वह दैवी शक्ति उसमें भी विद्यमान है उसने शाश्वत सत्य (Eternal Truth) को पा लिया है। उसने समझ लिया है कि वह शरीर नहीं है बल्कि उस दैवी परम सत्ता का ही अंग है। वह द्वन्द्व से ऊपर उठ जाता है। उसके लिये सुख-दुख, हानि-लाभ, जीवन-मरण, यश-अपयश अब कोई मायने नहीं रखते हैं। यह सब माया एवं अहँकार के ही रूप हैं

। वह हर समय प्रभु चिंतन में ही लीन रहता है अर्थात् अपने स्वरूप में ही स्थित रहता है। जब तक उसका जीवन है वह ईश्वर द्वारा रचित इस मायावी संसार में निर्लिप्त भाव से अपने कर्तव्यों को करता हुआ साक्षी एवं दृष्टा भाव से अपना जीवन यापन करता है। हर समय वह एक दिव्य प्रकाश में सराबोर रहता है। उसके किये गये कर्म अब संस्कार नहीं बनते और वह आवागमन के चक्र से मुक्त हो जाता है।

साधना की अंतिम ऊँची अवस्था में प्रत्येक साधक का अनुभव एक ही जैसा होता है। चाहे वह निराकार साधक हो या साकार उपासक। साधना साकार उपासना से शुरु होकर अन्त में निराकार में समाप्त होती है। निराकार उपासक को भी किसी न किसी रूप में साकार की मदद लेनी पड़ती है। अन्त में सब एक ही रूप का अनुभव करते हैं जो न साकार है और न निराकार, जो न द्वैत है और न अद्वैत। अन्त में सब मिलकर एक हो जाते हैं।

सप्तम अध्याय
गुरु ध्यान ही क्यों?

इस साधना पद्धति में सन्तों ने तीन मुख्य केन्द्र बिन्दु माने हैं - सतगुरु, प्रेम और समर्पण। पहले सतगुरु की खोज, फिर उनका कृपा पात्र बनने के लिये उनसे प्रेम का रिश्ता जोड़ना और अन्त में पूर्ण समर्पण। ईश्वर दर्शन अर्थात अपने निज स्वरूप का ज्ञान पाने के लिये गुरु ही माध्यम है। एक चैतन्य पुरुष अर्थात् सतगुरु का ध्यान ही सर्वश्रेष्ठ है। परमात्मा तो निराकार है उस पर मन को टिकाना सम्भव नहीं है। पहले गुरु ध्यान, फिर धीरे-धीरे गुरु में लय होना और अन्त में गुरु के चरणों में अपने अहँ को समर्पित कर गुरु में लय होते ही ईश्वर में साधक लय हो जाता है। सूफियों ने इसी को फ़ना-फ़िल-शेख़ व फ़ना-फ़िल-अल्लाह कहा है। पतंजलि ने बतलाया है कि वीतराग व आप्त पुरुषों के ध्यान से मन में वैराग्य व निष्कामता उत्पन्न होती है। हमें ऐसे संत से सम्बन्ध जोड़ना है जिसने स्वयं तद्रूपता प्राप्त कर ली हो। फिर तन व मन से उसी के हो कर रहो। ईश्वर के किसी दूसरे साकार रूप को ध्यान में न लाओ।

साधक के मन में एक भ्रम बना रहता है कि गुरु से भिन्न ईश्वर का अलग ध्यान करें या गुरु के रूप में ही उस चैतन्य स्वरूप परमात्मा को हृदय में बसावें। साधकों को यह नहीं भूलना चाहिये कि ध्यान का मूल मंत्र है अनेक से एक पर आना। अनेक ख़्यालों को छोड़ कर केवल एक ख्याल पर अपने मन को टिकाना ही हमारा उद्देश्य है। यदि हम गुरु से अलग अपने भाव के अनुसार ईश्वर के किसी भी अन्य स्वरूप का भी साथ में ध्यान करते हैं तो हमारा मन दो स्वरूपों में फँस कर रह जायेगा। कभी हमारे ध्यान में गुरु का स्वरूप आयेगा व कभी ईश्वर का कोई कल्पित स्वरूप। हम इन दो में से किसी को भी नहीं छोड़ पायेंगे और साधना का वांछित फल हमें नहीं मिल पायेगा। मन दोनों स्वरूपों में फँसा रह जायेगा।

सन्तों ने इसका एक हल निकाला है। यदि पहले से ही तुमने अपने भाव के अनुसार परमात्मा का कोई स्वरूप अपने मन में बना लिया हो तो उसी रूप को गुरु की शक्ल में ढ़ाल कर ध्यान करो। यदि इस मार्ग में बिल्कुल नये हो तो गुरु को ही अपना इष्टदेव मान कर केवल उन्हीं का ध्यान करो। गुरु से भिन्न कोई और रूप ध्यान में न आने दो। सूफी मत व सन्त मत में गुरु उपासना से बढ़कर कोई साधन नहीं है। यही सबसे उत्तम तरीका है मंजिल तक पहुंचने का। गुरु प्रेम में लिप्त साध्य का ईश्वर से भी कोई सरोकार नहीं रहता है। उसके लिये तो गुरु ही सब कुछ है। इस सम्बन्ध में सूफी सन्तों की कुछ हिदायतों पर गौर फरमायें:-

गुरु के अनुसार बताये गये:-

1) जप, तप, आदि अन्य कर्म अकेले में बैठ कर करें। गुरु के सामने बैठने पर अपनी सुरत की धार केवल गुरु से ही जोड़े रहें।

2) हर हाल में अपने हृदय का मुख अपने पीर (गुरु) की तरफ ही रक्खें। यदि रुहानियत का पाठ आपको किसी अन्य जगह से मिला हो तो भी अपने गुरु की ही कृपा का फल समझना चाहिये।

3) तालिब (शिष्य) का धर्म है कि हर तरफ से अपने मन को हटा कर बड़ी विनम्रता के साथ अपने पीर की रुहानियत की ओर अपना ध्यान लगावें। तन, मन, धन सब कुछ गुरु पर न्योछावर करें।

4) यदि गुरु के सामने बैठे हो तो उनके चेहरे को लगातार देखते रहें। बाकी समय उनके तसव्वुर (ख्याल) में डूबा रहे।

5) अपने हृदय को गुरु प्रेम के सिवाय हर चीज से खाली कर देवें। यह कार्य भी केवल गुरु कृपा से ही सम्भव है।

सहजो बाई गुरु प्रेम की एक अनूठी मिसाल है। उन्होंने अपनी अवस्था का इस प्रकार वर्णन किया है:-

राम तजूँ पर गुरु न बिसारुँ। गुरु के सम हरि को न निहारुँ ॥
हरि ने जनम दियो जग माही। गुरु ने आवागमन छूटाहीं ॥
हरि ने कुटुम्ब जाल में गेरी। गुरु ने काटी ममता बेरी ॥
हरि ने कर्म भर्म भरमायो। गुरु ने आतम रूप लखायो ॥
हरि ने मोसूँ आप छिपायो। गुरु दीपक है ताहि दिखायो ॥
चरणदास पर तन मन बारों। गुरु न तजौं हरि को तजि डारौ ॥

सब पर्वत स्याही करूँ, घोरुँ समुद्र मझाय।
धरती का कागज करूँ, गुरु स्तुति न समाय ॥

सन्तों ने कहा है और अनुभव भी किया है कि परमात्मा कण-कण में व्याप्त है। परन्तु उसके स्वरूप के विषय में कुछ भी निर्णायक नहीं कहा जा सकता है। सच्चाई यह है कि जिसने जिस भाव से उसे याद किया उसे उसी रूप में दर्शन मिला। तुलसीदास जी ने कहा है:-

जाके रही भावना जैसी, प्रभु मूरत देखी तिन तैसी।

यदि गुरु को ईश्वर मान कर उसकी उपासना की जाती है तो गुरु की चैतन्य मूर्ति ही उसे साधना के उच्चतम शिखर पर ले जायेगी। गुरु उपासना ही ईश्वर उपासना है, ऐसा सूफियों व सन्तों का विश्वास है।

अनुभव यही कहता है कि ईश्वर न साकार है और न निराकार बल्कि दोनों ही है। इस मार्ग पर चलने वाले साधना गुरु के साकार रूप से शुरू करते है परन्तु इसका अन्त निराकार में होता है।

साधक चाहे कर्मकांडी हो, या ज्ञान मार्गी या भक्ति व प्रेम मार्गी हो, प्रारम्भ उसे मन की एकाग्रता से ही करना पड़ेगा। एक ख्याल या भाव पर उसे मन को टिकाना होगा। अद्वैत व निराकारवादी ईश्वर के शब्द व प्रकाश रूप पर अपना मन एकाग्र करते हैं। द्वैत व साकार वादी परमात्मा का एक कल्पित रूप खींच कर उस पर ध्यान जमाते हैं। गुरु की चैतन्य शक्ल पर ध्यान जमाना साधना की सबसे सरल विधि है। अन्य तरीकों के बजाय इस विधि से हम जल्दी व आसानी से अपने असली स्वरूप की पहिचान कर सकते हैं। अभ्यास करते-करते एक समय ऐसा आता है जब साधक को न अपनी खबर रहती है और न इष्ट व ध्यान की। तीनों मिलकर एक हो जाते हैं एक बात ध्यान देने योग्य है भक्ति व उपासना की कोई भी क्रिया चाहे जिस तरीक़त से सम्बन्ध रखती हो उसको पूरा करने का स्थान हृदय ही रहेगा।

मार्ग की बाधायें

ईश्वर पास से पास है और दूर से दूर है। अधिकांश बाधायें हमने स्वयं ही निर्मित की हैं। किसी ने कहा है:-

दीदार तो हो जाता, कोई बात न थी।
अपने ही विचार दीवाल बन गये ॥

इस मार्ग की सबसे बड़ी बाधा है गुरु के प्रति साधक में श्रद्धा व विश्वास की कमी। सन्तमत व सूफी मत में गुरु उपासना ही ईश्वर की उपासना है। यदि हमारा विश्वास डगमगाता है तो हम पूर्ण रूप से गुरु के शरणागत नहीं हो सकते हैं। यदि मन में जरा सा भी संशय है तो ऐसे जिज्ञासुओं के लिये उपासना व भक्ति मार्ग से दूर रहना ही ठीक होगा। प्रारम्भ से ही, चाहे देर लग जाये, गुरु सोच समझ व परख कर ही करना चाहिये। सदगुरु की पहचान के विषय में पीछे लिखा जा चुका है। बार-बार गुरु बदलने से लाभ नहीं मिलेगा।

हमें अपने लक्ष्य को सदैव ध्यान में रखना होगा। अन्य सब बातें गौण होंगी। गुरु से हम संसार न माँगे। केवल आत्म ज्ञान की ही अपेक्षा करें।

प्रायः देखा जाता है कि साधक आलस्य व प्रमाद में आकर साधना में ढील डालने लगते हैं। आलस्य के वशीभूत होकर वे निश्चित समय पर साधना पर नहीं बैठ पाते हैं। कभी-कभी मित्र मंडली के फेर में पड़ कर या मनोरंजन के साधनों में व्यस्त होकर साधना में व्यवधान पैदा कर लेते हैं।

साधना में सफलता के लिये निरोग काया व स्वस्थ शरीर का अपना महत्व है। ऐसा व्यक्ति ही दृढ़ निश्चय व प्रबल इच्छा शक्ति वाला होगा। इनके बगैर साधना में हम आगे बढ़ ही नहीं पायेंगे। मन का स्वस्थ होना भी जरूरी है। महर्षि पतंजलि ने योग सूत्र में कहा है:-

"सतु दीर्घकाल नैरन्तर्य सत्कारा सेवितो दृढ़ भूमि"

ध्यान की सफलता के लिये धैर्यपूर्वक दीर्घकाल तक लगातार श्रद्धा व विश्वास के साथ प्रयत्न करते रहना चाहिये। कोई समय सीमा निश्चित नहीं की जा सकती है क्योंकि हर साधक के संस्कार, लगन व परिश्रम करने की शक्ति अलग-अलग होती है। मन न लगने की हालत में साधक को निराश नहीं होना चाहिए। विषय भोग व नाते रिश्तों की नश्वरता व उनसे उत्पन्न दुखों का चिन्तन कर मन को बराबर समझाते रहना चाहिये। गुरु कृपा के लिये प्रार्थना करते रहना चाहिये। जन्म-जन्मान्तर के संस्कारों का प्रभाव मिटने में समय लगेगा।

गुरु से नियमित सम्पर्क न रखना भी मार्ग में बाधाओं का कारण बनता है। हर बाधा का समाधान गुरु में निहित है, परन्तु हमारा कर्तापन व अहँ का भाव हमें गुरु से दूर भगाता है। जितना अधिक गुरु से हम रूबरू होंगे उतना ही बाधाओं से बचते रहेंगे। गुरु सत्संग अमूल्य है। कहा गया है:-

सत्संगकाले निसंगत्वं निसंगत्वे निर्मोहत्वं ।
निर्मोहत्वे निश्चलतत्वं, निश्चल तत्वे जीवन मुक्तिः ॥

सत्संग करने से मनुष्य को असंगता अर्थात् सम्बन्ध हीनता होने लगती है। सम्बन्ध रहित होने से सांसारिक पदार्थों के प्रति लगाव नहीं पैदा होता है, और ऐसी मोह रहित अवस्था में ईश्वर पर मन निश्चल हो जाता है और तब जीवन मुक्त अवस्था प्राप्त हो जाती है।

यदि साधक को ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं है या उस परम चैतन्य सत्ता को जानने में उसकी रुचि नहीं है तो उसे कोई सफलता नहीं मिलेगी।

साधकों में आत्म निरीक्षण की कमी भी एक बाधा सिद्ध होती है। केवल आँख बन्द कर बैठने से कुछ नहीं होगा। धीरे-धीरे यह एक कर्मकांड सा बन जाता है। हर समय अपने मन को देखते रहिये और प्रार्थना करते रहिये कि गुरु आप पर दया करें। साधना को जीवन में ढ़ालने का प्रयत्न कीजिये ताकि आपका रुपान्तरण हो, हृदय निर्मल बने और आपके व्यवहार व आचरण में साधना का प्रभाव दिखलायी दे। इस सिलसिले में ध्यान की क्रिया बहुत ही आसान है। कोई रूढ़िवादिता नहीं, कोई बंधन नहीं और न ही किसी प्रकार का आडम्बर है। केवल ध्यान में अपने को गुरु प्रेम में ही डुबोना है। ध्यान की क्रिया गुरु के सामने बैठ कर सीखना चाहिये। कहीं पढ़ कर या सुन कर नहीं करना चाहिये।

गर अजल में मुझको मिलता मांगने का अख्तयार।
खिज्र की उम्र और मैख़ाने की खिदमत माँगता ॥

साधक भगवान से केवल दो ही चीज़ें माँगता है। मेरी उम्र फ़रिश्ते के बराबर (प्रलय तक) हो और मैं मयखाने की खिदमत करता रहूँ। सत्संग ही मयखाना (मदिरालय) है, प्रेम की मदिरा पिलाने वाला साक़ी गुरु ही है। सब सत्संगी ही उस प्रेम मदिरा के पीने वाले साथी हैं। प्रारम्भ में साधकों को अन्य गुरुओं या साधु-संतों

से नहीं मिलना चाहिये। इसमें एक खतरा है। आजकल सच्चे महात्मा बहुत कम ही मिलते हैं। सच्चे सन्त तो दूसरे गुरु के शिष्य से मिलकर प्रसन्न होते हैं व अपना आशीर्वाद देते हैं। अधिकांश गुरु अपनी शक्ति से आपकी साधना के फल को छीन कर आपके हृदय में अंधकार भर देते हैं। इनसे बचने का एक ही तरीका है कि इनके सामने पड़ने पर अपने को गुरु में लय कर दें या उनकी याद में अपने को डुबो दें।

साधक को मन से लड़ने व उसे मारने की बात कभी नहीं करनी चाहिये। मन को जितना दबाने की कोशिश करेंगे उतना ही वह और ऊपर उछलेगा। यदि मन को मार दिया तो आगे की अध्यात्मिक उन्नति रुक जायेगी। मन ही बन्धन का कारण है और मन ही मोक्ष का कारण है। मन को केवल नियंत्रण में करके उसकी दिशा बदल देनी है। जो मन अब तक संसार की ओर था, उसकी दिशा बदल कर ईश्वर की ओर करना है। हमारे यहाँ की साधना दृष्टा साधन है। जो भी अच्छे बुरे विचार आयें उन्हें देखते रहना है। साक्षी भाव पैदा करना है। अभ्यास एवं वैराग्य से मन पर नियंत्रण किया जा सकता है।

साधना में जल्दी सफलता न मिलने का कारण अपने ही संस्कार हैं। जन्म जन्मांतर से हमारी वृत्तियाँ बर्हिमुखी हो चुकी हैं। उन्हें अर्न्तमुखी बनाने में समय लगेगा। गुरु कृपा से ही माया के बन्धन कटेंगे।

जप-तप संयम और व्रत सब, कर कर सब ही हारा रे।
गुरु गम बिन कोई लक्ष्य न पावे, कहत कबीर बिचारा रे॥

ध्यान कैसे - गहरे पानी पैठ

ध्यान में हमें निम्नलिखित तीन बातों को अपने ख्याल में लाने का प्रयत्न करना चाहिये।

1) ध्यान में समय का महत्व नहीं है कि आप कितनी देर तक ध्यान में बैठ सकते हैं। आँख बन्द कर घंटों बैठा जा सकता है। परन्तु मन भागता ही रहेगा। तरह-तरह के संकल्प विकल्प उठते ही रहेंगे व मन चिन्ताओं से घिरा हुआ अशान्त ही बना रहेगा। मुख्य बात यह है कि आप ध्यान में अपने अन्दर कितने गहरे डूबते जाँय और हृदय के गहनतम स्थानों तक पहुंचने की कोशिश करें। अपनी अन्तरात्मा की गहराई में हमें एक ऐसा स्थान मिलेगा जहाँ पूर्ण शान्ति के साथ प्रेम सर्वोपरि होगा।

सूफी सन्तों ने ईश्वर को प्रेम स्वरूप माना है। (God is love) ईश्वर ने मनुष्य को अपने ही स्वरूप में बनाया (God created man in his own image) इस नाते सभी प्राणी भी प्रेम स्वरूप ही हैं। परन्तु हम अपने इस स्वरूप को भूल चुके हैं। हम किसी भी व्यक्ति को चाहे कितनी ही गहराई से प्रेम करें परन्तु हृदय में एक ऐसा स्थान है जहाँ कि उसकी पहुंच नहीं हो सकती। उस स्थान पर हम बिल्कुल अकेले हैं। ईश्वर दर्शन की इच्छा की तीव्रता इस बात का प्रमाण है कि हृदय का वह स्थान केवल परमात्मा के लिये ही आरक्षित है।

2) हृदय में इस स्थान को ढूँढ़ने के बाद हमें ऐसा ख्याल बांधना चाहिये कि उस स्थान पर हमें चारों ओर से ईश्वर के प्रेम ने घेर लिया है और हम उस दैवी प्रेम में पूरी तरह से डूब गये हैं। हम पूर्ण शान्ति में हैं। ईश्वर ने हमें अपनी शरण में लेकर पूर्ण सुरक्षा प्रदान की है। हमारा पूरा अस्तित्व ही ईश्वर प्रेम में डूबा हुआ है। कुछ भी बाहर नहीं है।

3) परमात्मा की उपस्थिति में इस प्रकार बैठने से हमें शान्ति व आनन्द तो मिलेगा, परन्तु भूत व भविष्य के विचार हमारे मस्तिष्क में आते ही रहेंगे। पुरानी यादें व शक्लें आयेंगी।

हमें, ध्यान में ऐसा ख्याल बांधना होगा कि हर विचार, हर शक्ल व हर भाव उस ईश्वर प्रेम में डूब कर उसी में लय हो गया है।

विचारों की इस प्रक्रिया से ईश्वर प्रेम में कहीं अधिक आकर्षण व गुरुत्वाकर्षण शक्ति (Dynamic Magnetic Power) है । यदि हम इस प्रकार बिल्कुल एकाग्रचित्त होकर ध्यान करें तो विचार स्वतः गायब हो जायेंगे। कुछ नहीं बचेगा। मस्तिष्क पूरी तरह से खाली हो जायेगा। मन व मस्तिष्क को नियंत्रण में करने का यह एक अध्यात्मिक तरीका है। ध्यान के गहरे मौन में परमात्मा फलित होता है।

असीम के प्रति प्रेम भी असीम होता है। सतगुरु हमारे हृदय को खंड-खंड करके उसे खाली करते हैं ताकि वहाँ असीम के प्रवेश के लिये स्थान बन सके। ध्यान की इस क्रिया को यदि लगातार बहुत लम्बे समय तक करते रहेंगे तो एक दिन हमें यह अनुभव होगा कि हृदय का वह स्थान व चेतना मिलकर एक हो गये हैं। समाधि की उच्चतर स्थितियों में द्वैत समाप्त हो जाता है। तुम उस परम चेतना में लय होने लगते हों।

द्वितीय खण्ड

अष्टम अध्याय

शाश्वत सत्य क्या है?

शाश्वत सत्य को जान कर जीवन ज़ीने का क्या अर्थ है। अंतिम सत्य क्या है? ईश्वरीय मार्ग पर चलने से पहले साधक को इन प्रश्नों का उत्तर चाहिये। उसे अपने लक्ष्य का स्पष्ट ज्ञान होना चाहिये ताकि वह उसे प्राप्त करने के लिये अपनी पूरी ऊर्जा लगा सके। यदि लक्ष्य ही निश्चित नहीं है या उसके विषय में कुछ भ्रम या संशय है तो साधक अपने मार्ग से अवश्य ही भटक जायेगा।

महान सूफी सन्त फराहउद्दीन अत्तार साहब ने फारसी में लिखित पुस्तक 'चिड़ियों का सम्मेलन' में एक रूपक के द्वारा आत्म-साक्षात्कार की इस अध्यात्मिक यात्रा के मार्ग का वर्णन कर अंतिम सत्य (The Absolute Truth) के रहस्य से पर्दा उठाने का प्रयत्न किया है। एक बार चिड़ियों का एक सम्मेलन हुआ। उसमें यह प्रश्न उठा कि हमने कभी भी अपने राजा का न तो दर्शन किया है और न ही हमें इस बात का इल्म है कि उसका नाम क्या है और वह कहाँ रहता है? एक बुद्धिमान हूपी पक्षी (इसे ही सतगुरु समझें) ने अपनी सेवायें अर्पित की। हूपी ने बतलाया कि राजा का नाम सिमुर्ग़ है और वह बहुत दूर काफ़ नामक पहाड़ पर रहता है। फारसी भाषा में सि का अर्थ है तीस और मुर्ग का मतलब है चिड़िया। इस प्रकार सिमुर्ग का अर्थ हुआ तीस चिड़ियाँ। बगैर पांच घाटियाँ और दो भयंकर रेगिस्तानों को पार किये हुए कोई भी वहाँ पर नहीं पहुंच सकता है। मार्ग बहुत ही कठिन है फिर भी भूतकाल में कुछ चिड़ियों को वहाँ तक पहुंचने में सफलता मिली है। मार्ग की कठिनाइयों को सुन कर बहुत सी चिड़ियों ने अपने को इस खतरनाक यात्रा से अलग कर लिया। फिर भी कुछ बहादुर चिड़ियों ने साहस करके इस भयंकर और अनजानी यात्रा पर हूपी के दिशा निर्देशन में चलने का निश्चय किया। उन्हें खोज, प्रेम, ज्ञान, वैराग्य और एकत्व की पांच घाटियाँ व भ्रम व आश्चर्य तथा अहँकार के दो

भयानक रेगिस्तानों को पार करना होगा। प्रत्येक अगला पड़ाव अपने पिछले मुकाम से ज्यादा मुश्किल व खतरनाक है।

खोज की घाटी को पार करना आसान नहीं है। एक जिज्ञासु को भी लगभग इन्हीं मुक़ामों से होकर गुजरना पड़ता है। इस मार्ग पर केवल वही साधक आगे बढ़ सकता है जिसके अन्दर सत्य को खोजने की तीव्र जिज्ञासा हो और दृढ़ निश्चय के साथ तब तक अपनी खोज जारी रक्खे जब तक कि शाश्वत सत्य को जान न ले। सत्य के अलावा उसका और कोई लक्ष्य न हो। यह जिज्ञासा इतनी तीव्र और उत्कंठ होनी चाहिये जितनी कि एक डूबते हुये व्यक्ति की हवा के लिये होती है। इस संसार में प्रायः सभी व्यक्ति भौतिक सुखों और उसके साधनों को इकट्ठा करने में लगे रहते हैं। केवल कुछ मुट्ठी भर लोग ही अपने असली स्वरूप को जानने की खोज में लगते हैं। एक ऐसे समर्थ गुरु की खोज भी आवश्यक है जो अन्त तक साधक का मार्ग दर्शन कर सके।

इसके बाद प्रेम की घाटी को पार करना होता है। अपने मार्ग दर्शक सतगुरु से प्रेम का सम्बन्ध बनाना होगा। हमारी साधना गुरु प्रेम पर आधारित है। इसमें सबसे बड़ी बाधा हमारा अहँ है जो कि हमको गुरु से प्रेम का रिश्ता बनाने में भटकाव पैदा करता है। गुरु प्रेम की अग्नि में ही सारे भौतिक विकार भस्म होते हैं। अंत में केवल प्रियतम से मिलने की इच्छा ही रह जाती है। अनेक से एक पर आना ही साधना का उद्देश्य है और वह एक है सदगुरु जिसे पूर्ण समर्पण करने पर ही हम अध्यात्मिक मंज़िलों को पार कर सकते हैं। यदि गुरु के प्रति प्रेम सांसारिक कामनाओं से रहित निश्छल व पवित्र है तो प्रेम की घाटी को आसानी से पार किया जा सकता है।

अब ज्ञान की घाटी को पार करना है। ज्ञान का अर्थ पुस्तकीय ज्ञान या दूसरों के अनुभवों से प्राप्त ज्ञान नहीं है। गुरु से प्राप्त ज्ञान के प्रकाश में यहाँ उसे सत्य की एक हल्की झलक का आभास होता है। उस दिव्य सत्य का प्रकाश उसके

हृदय में प्रवेश करता है और उसे अब अपना लक्ष्य साफ दिखाई पड़ने लगता है। उसे यह आभास होने लगता है कि अब वह अपने प्रियतम से अधिक दूर नहीं है।

सत्य के प्रकाश में उसे वास्तविक ज्ञान प्राप्त होता है। अब माया के बादल छँटने लगते है। उसे अब संसार की क्षण भंगुरता व प्रत्येक वस्तु की नाशवान प्रकृति स्पष्ट रूप से समझ में आ जाती है। अब वह वैराग्य की घाटी में प्रवेश करता है जहाँ उसकी सारी सांसारिक इच्छाएँ व कामनाएँ नष्ट हो जाती हैं।

अब उसे यह अनुभव होने लगता है कि सारे ब्रह्माण्ड के अस्तित्व में चाहे वह जीवित या निर्जीव हो, आन्तरिक या वाह्य हो, एक ही तत्व की प्रधानता है। हर तरफ एकत्व ही दिखलायी पड़ता है। हर वस्तु में कोई ऐसी शक्ति मौजूद है जो इस ब्रह्माण्ड को नियमित रूप से चला रही है।

इन्हीं घाटियों को पार करने के बाद एक बार उसे भ्रम अंधकार व आश्चर्य के रेगिस्तान से गुजरना पड़ता है। वह अपनी बुद्धि से इस ब्रह्माण्ड के रहस्य को समझने में असफल पाता है। वह अपने को व इस अस्तित्व को भूल जाता है। वह एक प्रकार की शून्यावस्था में पहुंच जाता है। उसके अन्दर अंधकार छा जाता है। थोड़े समय के लिये उसका ज्ञान व चैतन्यता मिट जाती है।

अन्त में उसे अहँकार के रेगिस्तान से भी गुजरना पड़ता है। इसे पार करना सबसे कठिन है। आनन्दमय कोश में भी अहँ का एक झीना आवरण बना ही रहता है। द्वैत वहाँ पर भी मौजूद रहता है परन्तु गुरु कृपा से यह आवरण भी टूटता है। इस घाटी को पार करने पर अहँ नष्ट हो जाता है साधक अपने वजूद को नष्ट कर देता है। उसका अपना कोई अस्तित्व नहीं रह जाता है। वह अपने प्रियतम सदगुरु में पूरी तरह से लय हो जाता है।

यहाँ आकर उस यात्रा का अन्त हो जाता है और साधक को अपने असली स्वरूप का ज्ञान होता है। परन्तु इस अध्यात्मिक यात्रा के दौरान मार्ग की

कठिनाइयों के कारण हजारों मैदान छोड़ कर भाग जाते हैं। बहुत से चमत्कारों के फेर में पड़ कर अपना रास्ता खोटा कर लेते हैं। साधना के दौरान मानसिक शक्तियों का विकास होता है और साधक उनका दुरुपयोग करने से अपने को रोक नहीं पाता है। कुछ लोग अपने सदगुरु के अधिकार पर ही प्रश्न चिन्ह लगाने लगते हैं। ऐसे ढुलमुल साधकों को कुछ भी प्राप्त नहीं होता है।

इस प्रकार अन्त में केवल तीस चिड़ियाँ ही काफ़ नामक पर्वत पर पहुंचने में सफल हो सकी। वे अपने राजा के महल के द्वार पर पहुंच गयी। दरबान ने उन्हें अन्दर जाने से रोक दिया और उनके कर्मों का लेखा-जोखा प्रस्तुत किया। चूँकि उन्होंने पाँच घाटियाँ व दो रेगिस्तान पार करने में सफलता प्राप्त की थी इसलिये उनके शरीर व आत्मा अहँ के नष्ट होने से पवित्र हो चुके थे। उन्हें राजा के निजी कक्ष में प्रवेश करने की अनुमति दी गई। तीस चिड़ियों ने कमरे में प्रवेश करने पर सिंहासन पर किसी भी राजा को नहीं पाया। वहाँ पर उनके अतिरिक्त कोई भी सिमुर्ग़ (राजा) नहीं था तब उन्हें यह ज्ञान हुआ कि अपने आपको देखकर उन्होंने राजा को पा लिया और राजा की खोज में उन्हें अपने असली स्वरूप का ज्ञान हुआ।

यह कहानी हमें यह बतलाती है कि शाश्वत सत्य क्या है? ईश्वर ने भी मनुष्य को अपने ही स्वरूप में बनाया। तुलसीदास ने भी कहा है, "ईश्वर अंश जीव अविनाशी"। मनुष्य में ईश्वरीय गुण मौजूद हैं परन्तु उसने अपने वास्तविक स्वरूप को भुला दिया है। निर्माण के समय जो ईश्वरीय गुण उसमें थे, वे भी धीरे-धीरे नष्ट होते गये। चाहे हम कोई भी नाम दें, हमारी व्यक्तिगत चेतना विश्व चेतना का ही भाग है। समय बीतने के साथ माया मनुष्य पर हावी हो गई और वह पूरी तरह शैतान के अधिकार में चला गया। वह ईश्वर के साथ अपने सम्बन्ध को पूरी तरह से भूल गया और इस प्रकार उसका असली स्वरूप खो गया। उसके अन्दर के दैवी प्रकाश को अंधकार व अज्ञान ने ढ़क लिया। ईश्वरीय गुणों का स्थान लोभ, राग, द्वेष, मोह,

क्रोध आदि दुर्गुणों ने ले लिया। तुम्हें अज्ञान और अंधकार के घेरे से बाहर निकल कर यह जानना होगा कि तुम कौन हो, तुम्हारा असली रूप क्या है? जिस दिन तुम अपने असली स्वरूप को पा लोगे, अपनी खोई हुई पहचान को फिर से जान लोगे, अपनी पवित्र आत्मा के प्रकाश को देखोगे उसी दिन अपने को शाश्वत सत्य के सामने पाओगे। सभी संतों ने एक ही बात कही है 'Know Thyself' अपने आप को पहिचानो।

ऐसा व्यक्ति, जिसने कि अपने असली स्वरूप को जान लिया है, संसार में लोगों के बीच में रहकर कैसे अपना जीवन व्यतीत करता है, इसका वर्णन इस पुस्तक में उचित स्थान पर किया गया है। संक्षेप में यहाँ पर इतना ही कहना काफी होगा कि ऐसे व्यक्ति का पूरी तरह से रुपान्तरण हो चुका होता है। उसके आचरण, वाणी, व्यवहार और सोच में एक विशेष अन्तर मालूम पड़ेगा। वह निर्लिप्त भाव से सांसारिक उत्तरदायित्वों को इस प्रकार पूरा करेगा मानो वह ईश्वर की आज्ञा हो। उसका अहँ समाप्त हो जाता है। उसकी अपनी कोई इच्छा नहीं होती है। वह अपने को पूरी तरह ईश्वर की मर्जी पर छोड़ देता है और इस संसार में केवल एक मेहमान की तरह रहता है वह सदैव ईश्वरीय आनन्द में डूबा रहता है और उस परम चैतन्य सत्ता की उपस्थिति प्रत्येक वस्तु में अनुभव करता है।

शाश्वत सत्य को जानना पूर्ण रूप से एक व्यक्तिगत अनुभव है। आपके लिये यह अनुभव कोई दूसरा नहीं कर सकता है। आपको स्वयं ही इसका अनुभव करना होगा। शाश्वत सत्य को भौतिक रूप से नहीं देखा जा सकता है क्योंकि यह बुद्धि से परे की वस्तु है। सत्य की मौजूदगी अर्थात सत्य के होने में पूर्ण विश्वास रखना ही उसका अनुभव करना है। हृदय में सत्य इतना गहरा बैठ जाता है कि यदि सिर भी कलम कर दिया जाय तो भी वह कहेगा कि मैं सत्य का अनुभव कर रहा हूँ। मंसूर नामक एक सूफी संत के साथ ऐसा ही हुआ। धार्मिक शिक्षाओं के खिलाफ बोलने पर राजा ने उसका सर कलम करने का हुक्म दिया। जब उसका सिर ज़ीने की

सीढ़ियों से नीचे लुढ़क रहा था तो भी उसके मुँह से यह शब्द निकल रहे थे 'अनलहक़' (मैं ही सत्य हूँ)।

शाश्वत सत्य के अनुभव के लिये तुम्हें अपनी गहरी नींद से बाहर आना होगा। जन्म जन्मान्तर से हम सोते ही चले आ रहे है। तुम्हें जागना होगा। तुम्हें अपने असली स्वरूप के प्रति जागरूक होना पड़ेगा। अपनी सोई हुई चेतना को जगाना ही मुख्य बात है। एक कहानी सुनी थी:-

एक शिष्य अपने सतगुरु के पास गया और कहा, "क्या आप मुझे ज्ञान का केवल एक शब्द ऐसा बता सकते हैं जो जीवन भर मुझे रास्ता दिखा सके"। उस दिन सतगुरु का मौन दिवस था। उन्होंने एक कापी उठा कर उस पर एक शब्द 'जागो' (Awareness) लिख दिया। शिष्य ने कहा, "यह इतना संक्षिप्त है कि समझा नहीं जा सकता है। कृपया कुछ विस्तार से समझाइये"। सतगुरु ने फिर लिखा, "जागो, जागो, जागो" (Awareness, Awareness, Awareness)।

शिष्य ने कहा, ठीक है, परन्तु इसका मतलब क्या है? गुरु ने फिर कापी पर 'लिखा, "जागने का मतलब जागना है" (Awareness means Awareness)।

आश्चर्य की बात है कि सदियों से संत, पीर, पैगम्बर, औलिया पुकार-पुकार कर हमें जागने को कह रहे हैं परन्तु हम अपनी नींद को तोड़ना नहीं चाहते हैं। हमें अपने अस्तित्व का ही पता नहीं है। हमें अपने स्त्रोत का भी पता नहीं है। हम अपने स्वयं को भी नहीं जानते हैं।

हम शाश्वत सत्य को कैसे जान सकते हैं। कहा जाता है कि अपने आप को देखो। अपने घर की ओर वापस लौटो। उस परम चैतन्य सत्ता का आभास पहले हृदय में ही होगा, बाहर नहीं। तुलसीदास जी ने कहा है:-

मुकुर मलिन अरु नयन विहीना।
राम रूप देखहिं किम दीना ॥

हमारा हृदय रूपी शीशा जन्म-जन्मान्तर के संस्कारों की पर्त दर पर्त धूल जमा होने से मलिन हो गया है और हमारे आन्तरिक ज्ञान चक्षु भी बन्द हैं। ऐसे में हम परमात्मा के स्वरूप को उसमें नहीं देख सकते। हमें अपने हृदय रूपी बर्तन को खाली भी करना है क्योंकि उसमें काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि के संस्कार भरे पड़े हैं और उसे निर्मल भी बनाना है। यदि हम जाग गये हैं और हमारी चेतना इन विकारों के प्रति सजग हो गई है तो लगातार साधना करते रहने से धीरे-धीरे ये विकार हृदय से निकल जायेंगे ओर हृदय खाली हो जायेगा। याद रखिये जागने से हृदय विकार रहित होगा और साधना से निर्मल बनेगा। तभी हृदय में गुरु कृपा उतरेगी। गुरु कृपा बगैर तुम कहीं के भी नहीं हो। यदि तुमने अपने हृदय को गुरु कृपा के लिये विकार रहित व निर्मल नहीं किया तो तुम्हारी यह आध्यात्मिक यात्रा कई जन्मों तक चल सकती है। कहते हैं:-

जनम जनम मुनि यतन कराहीं।
अंत राम कँह आवत नाहीं ॥

यदि हमने हृदय में गुरु कृपा के प्रवेश की तैयारी उसे खाली करके व निर्मल बना के कर ली है तो शाश्वत सत्य के हम बहुत नजदीक पहुंच गये हैं।

भेदी (सतगुरु) लीना साथ कर, दीनी वस्तु लखाय।
कोटि जन्म का पन्थ था, पल में पहुंचा जाय ॥

क्षण भर के लिये सोचो। क्या हम अपने निज के प्रयत्नों से अपनी जन्मों से सोई हुई चेतना को जाग्रत अवस्था में ला सकते हैं? क्या हम बगैर सतगुरु द्वारा मार्ग निर्देशन के साधना में सफलता पा सकते हैं? हाँ यह सम्भव है, परन्तु हम बहुत

सीमित समय के लिये कुछ दूर तक ही आगे जा सकते हैं। बहुत जल्द ही हम फिर सांसारिक प्रलोभनों में फँस जायेंगे और मायावी जाल में बंध जायेंगे क्योंकि हमारा कोई रक्षक हमारे साथ नहीं होगा। हमारी अध्यात्मिक यात्रा बगैर सतगुरु के अधूरी ही रह जायेगी।

इसीलिये सूफी साधना पद्धति और संत मत में एक प्रबुद्ध आत्मा अर्थात सतगुरु की आवश्यकता पर बल दिया गया है। सतगुरु ऐसा होना चाहिए जो अपनी तवज्जोह (आत्म शक्ति या शक्तिपात) से आपके हृदय को बदलने की क्षमता रखता हो। एक सूफी गुरु की परिभाषा इस प्रकार की गई है -

"जिसने लौकिक व पारलौकिक इच्छाओं से निजात पा ली है, जिसने मानवीय विकारों को दूर कर अपने आन्तरिक हृदय को निर्मल बना दिया है, जिसके हृदय व मस्तिष्क में ईश्वरीय प्रकाश जगमगा रहा है और जिसकी आँखों ने संसार से मुँह मोड़ लिया है, ऐसा व्यक्ति ही सत्य को जानने वाला है।"

जीवन थोड़ा है और काल अपनी गति से भाग रहा है। ऐसे में जब भी जाग जाइये तभी सवेरा है। एक ऐसे समर्थ गुरु की तलाश में लग जाइये जो आपको शाश्वत सत्य का ज्ञान देकर उसका प्रत्यक्ष अनुभव करा सके।

नवम अध्याय

बुजुर्ग संतों का अध्यात्मिक संसार में प्रवेश

इस क्षणभंगुर भौतिक संसार में मनुष्य धन, समृद्धि एवं शक्ति से सम्बन्धित सभी सांसारिक इच्छाओं की पूर्ति का दंभ भर सकता है। केवल एक बहुमूल्य वस्तु उसके हाथ में नहीं आ रही है। जैसे-जैसे वह अपने को सांसारिक वासनाओं व इच्छाओं में गहरे डुबोता जाता है, उसकी वास्तविक सुख, शान्ति व अपने असली स्वरूप को जानने की इच्छा भी समाप्त होती जाती है।

मनुष्य अपना सुख उन्हीं चीजों में ढूँढ़ता है जो स्वभाव से ही नष्ट होने वाली है। इस अज्ञान के कारण ही राजा व रंक, अमीर व गरीब, सभी का जीवन दुखों व दुःशचिन्ताओं से भरा हुआ है। माया के इस जाल में फँस कर वह आवागमन के चक्र से कभी मुक्त नहीं हो पाता है। वह जीवन के इस लक्ष्य को भूल जाता है कि हमें अपने को उस परम चैतन्य सत्ता में लय करना है। महान सूफी सन्त यह बतलाते हैं कि दैवी प्रसन्नता व शान्ति अपने असली स्वरूप को जानने पर ही मिल सकती है। मनुष्य उस शाश्वत, सर्वोच्च व चैतन्य विश्व चेतना का ही भाग है और अन्त में हमें उसी में मिल जाना है।

आत्म साक्षात्कार का यह अध्यात्मिक सफर बहुत लम्बा व कठिन है। एक जलते हुए दीपक से ही दूसरा दीपक जलाया जा सकता है। यह यात्रा केवल एक ऐसे सदगुरु की कृपा व लगातार साथ से पूरी की जा सकती है जिसने स्वयँ आत्म ज्ञान प्राप्त कर लिया है। ईश्वर अपने द्वारा रचित सृष्टि के जीवों पर सदैव दया करता है। समय-समय पर वह अपने देवदूतों को संतों के रूप में भेजता रहता है जो इस मार्ग पर चलने वालों को दैवी प्रसन्नता व अपने असली स्वरूप का ज्ञान करा सकें।

इस विषय पर आगे कुछ लिखने से पहिले मैं इस मार्ग के जिज्ञासु को यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि इन बुजुर्ग सन्तों (लाला जी साहब, चच्चा जी महाराज)

एवं उनके तीन पुत्रों (विशेष रूप से मेरे पूज्य पिता जी महात्मा राधा मोहन लाल जी) के जीवन दर्शन की सार्थकता केवल सूफी सन्तों के जीवन व उनके दर्शन के प्रकाश में ही समझी जा सकती है। उनके लिये सूफी मत अन्य विज्ञानों की तरह पढ़ाया जाने वाला एक दर्शन मात्र (Philosophy) नहीं था। यह जीवन जीने का एक तरीका था जिसे व्यक्तिगत रूप से अनुभव किया जा सकता था व व्यवहार में लाया जा सकता था। यह जीने की ऐसी कला थी जिसमें जीवन को दैवी शान्ति व आनन्द से भरने की क्षमता थी। सूफी शिक्षायें उनके जीवन के प्रत्येक क्रिया कलाप में पाई जाती थी। आन्तरिक पवित्रता व हृदय के रुपान्तरण के लिये उन्होंने इल्लत, किल्लत व जिल्लत को गले लगाया। अपने परि-ओ-मुर्शिद गुरु के मार्ग निर्देशन में उन्होंने सूफी शिक्षाओं को जीवन में उतार कर ईश्वर की राज़ी व रज़ा में जीना सीखा। उन्होंने संसार की क्षणभँगुरता व नाशवान प्रकृति को अच्छी तरह समझ कर यह अनुभव किया कि वास्तविक सुख इनमें नहीं है। अपने जीवन के प्रारम्भिक वर्षों से ही वह ईश्वर की इच्छा पर जीने लगे थे।

सूफी सन्तों के अनुसार सत्य मार्ग के जिज्ञासु के लिये धार्मिक पुस्तकों का पढ़ना केवल भ्रम पैदा करता है। इस मार्ग पर चलने वालों के लिये एक प्रबुद्ध आत्म (Enlightened Soul) के मार्ग निर्देशन में हर स्तर पर स्वयं अनुभव करना पड़ता है। जिन लोगों को लाला जी साहब, (फतेहगढ़ के महात्मा रामचन्द्र जी महाराज) चच्चा जी महाराज (महात्मा रघुबर दयाल जी) व महात्मा राधा मोहन लाल जी (चच्चा जी महाराज के मँझले सुपुत्र) से सम्बन्ध स्थापित करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, उन्हें अच्छी तरह से याद होगा कि किस प्रकार ये संत अपने सदगुरु में पूरी तरह से लय थे व शान्ति, दैवी आनन्द व साम्यावस्था की चैतन्य मूर्ति थे।

ऐसे संतों का जीवन वृतान्त लिखना एक कठिन कार्य है क्योंकि प्रायः ईश्वर के ये प्रतिनिधि अपने को दुनियादारी के बाहरी कलेवर में छिपाये रहते हैं। शायद ही कोई ऐसा भाग्यशाली व्यक्ति हो जो इनके आन्तरिक हृदय में झांक कर यह जान

सके कि वे सदैव परमात्मा से तदाकार हैं। संतों के परिवार में मेरा जन्म हुआ और बाबा (चच्चा जी महाराज) व पूज्य पिता जी (महात्मा राधामोहन लाल जी) का आशीर्वाद मुझे प्राप्त था। मुझे यह सौभाग्य प्राप्त हुआ कि मैं सुबह से रात तक उनकी सांसारिक व अध्यात्मिक क्रिया कलापों को बहुत नजदीक से देख सकूँ। मेरे बाबा लाला जी साहब व चच्चाजी महाराज ने क्रमशः 17 वर्ष व 14 वर्ष की अवस्था में इस मार्ग में दीक्षा (बैत) प्राप्त की। उनके गुरु इस मार्ग के नक्शबंदिया, मुज़द्दिदया, मज़हरिया सिलसिले के खलीफा व उत्तराधिकारी थे। वे थे ख्वाज़ा ख्वाज़गान मौलाना, फज़्ल अहमद खान नक्शबंदिया, मुज़द्दिदया, मज़हरिया अफ़ी अल्लाहू अनहू। उनकी अध्यात्मिक शक्ति ऐसी थी कि असम्भव भी सम्भव हो जाता था। उन्होंने अध्यात्मिक शिक्षा के नये आयाम ख़ोजे दोनों बुजुर्ग संतों ने अपने गुरु के पास लगभग 16 वर्षों तक रहकर इस मार्ग की ऊँची चोटियों तक चढ़ाई की।

अन्त में सन् 1907 में 30 नवम्बर को मौलवी फज़्ल अहमद इस नश्वर शरीर को छोड़कर उस परम सत्ता में विलीन हो गये। जाने से पहले अपने अध्यात्मिक भ्राता ख्वाज़ा खाज़गान हजरत मौलाना अब्दुल ग़नी ख़ान साहिब मुज़द्दिदया मज़हरिया के समर्थ मार्ग निर्देशन में लाला जी साहब व चच्चा जी साहब को सौंप गये। साथ ही साथ इस मार्ग के अन्य उत्तरदायित्व भी उन को सौंप दिये। अपने अनुयायियों में वे मौलवी साहब के नाम से मशहूर थे। इन संतों ने मौलवी साहब का अपनी अंतिम स्वाँस तक आज्ञा का पालन किया और उन को अपना कुल गुरु मान कर अपने परिवार के सभी सदस्यों को उन्हीं से बैत (दीक्षा) कराया।

संतों की महिमा विचित्र होती है। इस नश्वर संसार से बिदा होने से पहले वे अपने प्रिय शिष्यों को अंतिम उपदेश व मार्ग से सम्बन्धित जरूरी हिदायतें अवश्य देते हैं। मौलवी फज़्ल अहमद साहब ने भी लाला जी साहब व चच्चा जी महाराज को अपनी अंतिम यात्रा से पहले बुलवाया और एक शेर पढ़ा:-

दमे वापसी बरसरे राह है,
यारों अब अल्लाह ही अल्लाह है।

इस संसार से रुखसत लेने का मेरा वक्त आ गया है। जिस अल्लाह के घर से मैं आया था, वहीं मुझे फिर वापस जाना है। मैं पूरी तरह से तैयार हूँ। चारों ओर मुझे अल्लाह की ही उपस्थिति दिखायी पड़ रही है।

इसके बाद उन्होंने निम्नलिखित हिदायतें दीं जिन्हें कि सख्ती से पालन करना था:-

1) पीरी-मुरीदी के चक्कर में न पड़ना अर्थात गुरु बनने में कोई गर्व न महसूस करना और न ही शिष्यों से बेजा सेवा लेना।

2) मायावी प्रलोभनों से हमेशा अपने को दूर रखना।

3) दुनियादारी में अपने को न उलझाना। अपनी अध्यात्मिक शक्तियों को दिखा कर शिष्यों की संख्या न बढ़ाना। नाम व शोहरत से दूर रहना।

4) बिना किसी भेद भाव के शिष्यों को अपने बेटों के समान मानना।

5) अपने सभी कर्तव्यों व उत्तरदायित्वों को निर्लिप्त भाव से पूरा करना।

अन्त में उन्होंने लाला जी व चच्चा जी साहिबान को उनके विसाल के बाद उनके अध्यात्मिक भ्राता मौलवी अब्दुल गनी खान साहब (भौगाँव) के पास जा कर उनका आशीर्वाद प्राप्त करने को कहा। बगैर उनकी इजाजत के वे कभी किसी के सामने अपने को इस इल्म का जानकार नहीं बतायेंगे।

यह हिदायतें केवल उन्हीं के लिये नहीं थी। इन्हें इस मार्ग पर चलने वाले सभी को पालन करना चाहिये।

जीवन वृत्तान्त

परम सन्त महात्मा श्री रामचन्द्र जी महाराज एवं परम सन्त श्री रघुवर दयाल जी महाराज उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में जन्मे अध्यात्मिक व्यक्तित्व के धनी एवं नक्शबंदिया सिलसिले के आला बुजुर्ग थे। उनके जीवन का मुख्य उद्देश्य मनुष्य को गृहस्थ आश्रम के सम्पूर्ण कर्म-धर्म को पूरा कराते हुए सांसारिक कार्यों के साथ अध्यात्मिक जीवन व्यतीत करा कर सत्पुरुष के ध्रुव पद तक पहुँचाना था।

मेरे बाबा श्रीमान् चच्चा जी महाराज (महात्मा श्रीमान् रघुवर दयाल जी) के अनुसार उनके पूर्वज श्री वृन्दावन लाल (अजानबाहू) को मुगलिया सल्तनत के मुगल सम्राट अकबर ने उत्तम योग्यता और वीरता के कारण चौधरी की उपाधि, राजसी योग तथा पाँच सौ पचपन गाँव का क्षेत्र उपहार स्वरूप प्रदान किया था। इस क्षेत्र को श्री (अजानबाहू) जी ने मैनपुरी जनपद में भूमि ग्राम के नाम से बसाया, जो वर्तमान में भौगाँव के नाम से जाना जाता है। सन् 1857 की घटनाओं के कारण भौगाँव को अशान्त घोषित कर दिया गया था। इस कारण से उनके कुल की सन्तान बाबा के पिता जी श्री चौधरी हरबक्श राय जी भौगाँव में सब कुछ छोड़कर कायमगंज चले गये और नगर के चुंगी अध्यक्ष के पद पर कार्य करने लगे। श्रीमान् चच्चा जी की माता जी रामायण की परम भक्त थीं। उनके कोई सन्तान नहीं थी। उनके माता पिता सब कुछ होते हुए भी सन्तान न होने के कारण दुःखी रहते थे। आप दोनों अधिक से अधिक समय भगवान की पूजा में व्यतीत करते थे। एक दिन एक साधु उनकी हवेली के सामने से यह कहता हुए जा रहा था कि मुझे कोई खाना खिला दे। वे कुछ क्षण हवेली के सामने रुके। घर की नौकरानी ने उन साधु की आवाज सुनी तो बाहर आकर उनको बुलाया और कहा कि बाबा खाना हम आपको खिलायेंगे परन्तु उन्होंने मछली खाने का आग्रह किया। नौकरानी ने उनसे कहा कि

इस समय घर में मछली तो है नहीं, इसके अतिरिक्त जो आप कहें मैं वह आपको खिला सकती हूँ लेकिन उन्होंने मछली खाने की ही बात कही। नौकरानी ने अन्दर आकर मालकिन (श्रीमान् चौधरी जी की पत्नी) को उनकी बात बताई। वे दोनों उन साधु को बिना भोजन के वापस नहीं करना चाहती थी, तभी नौकरानी ने मालकिन को याद दिलाया कि सुबह नवाब साहब के यहाँ से दो मछली आयी हैं, और कहा कि आज्ञा हो तो वही मछली खिला दी जाये। माता जी ने वह मछली उन साधु को खिलाने की आज्ञा दे दी। मछली के साथ उन्होंने खुशी-खुशी भोजन किया और जाने लगे। तभी जाते समय उन्होंने नौकरानी से कहा कुछ मांग लो, नौकरानी सोच में पड़ गई कि उनसे क्या मांगा जाये। फिर वह कुछ सोचने के बाद बोली कि बाबा मेरी मालकिन के बच्चे नहीं हैं। वे साधु बहुत तेज गगन भेदी आवाज में हँसे और हाथ ऊपर उठाते हुए 'अल्लाह एक दो' कहा साथ ही यह भी कहा कि आज के बाद इस परिवार में न तो मछली आयेगी और न ही कोई खायेगा। उस दिन के बाद से हमारे परिवार में कभी भी मछली नहीं आयी और न किसी ने खायी। कुछ समय पश्चात् उनके आशीर्वाद से बसन्त पंचमी के दिन 2 फरवरी 1873 को एक पुत्र का जन्म हुआ जिनका नाम श्री रामचन्द्र जी पड़ा। लगभग ढ़ाई वर्ष के बाद 7 अक्टूबर 1875 को दूसरे पुत्र का जन्म हुआ जिनका नाम श्री रघुवर दयाल जी पड़ा। आप दोनों जब छोटे थे तभी परिवार को परेशानियों ने घेर लिया। पहले राजा से मुकदमा चला जो पिता श्री चौधरी हरबक्श राय जी हार गये। जिस कारण से सम्पूर्ण राज-पाठ चला गया और परिवार परेशानियों से घिरता गया। उसी बीच आप दोनों की माँ श्री चौधरी जी की पत्नी का भी निधन हो गया।

आपके पिता जी सभी परेशानियों का सामना बखूबी करते रहे। दोनों पुत्रों की शादी करने के बाद 1893 में उनकी भी मृत्यु हो गयी। आप दोनों भाइयों की जब शिक्षा चल रही थी, तभी आप लोग एक बहुत बड़े मुस्लिम सूफी सन्त के सम्पर्क में आये। वे सन्त आप दोनों के गुरु बने। तभी से आप लोगों का अध्यात्मिक जीवन आरम्भ हो गया। आगे चलकर आप दोनों भाई बहुत बड़े सन्त

बने। बड़े भाई महात्मा श्रीमान् रामचन्द्र जी लाला जी महाराज के नाम से एवं छोटे भाई श्रीमान् महात्मा रघुवर दयाल जी चच्चा जी के नाम से जाने गये। दोनों ने स्कूली शिक्षा एवं अध्यात्मिक शिक्षा एक साथ ही ली। आप लोग एक साथ सत्संग का कार्य करने लगे। प्रारम्भ में श्रीमान् लाला जी साहब सत्संग कराते थे और श्रीमान् चच्चा जी महाराज उनके साथ में बैठते थे। सत्संग सुबह-शाम होता था और उसमें काफी लोग शामिल होते थे। दोनों भाई फतेहगढ़ में सन् 1925 तक साथ रहे। सन् 1925 में मेरे परम पूज्य बाबा चच्चा जी महाराज अपने पुत्रों की नौकरी के कारण कानपुर आकर रहने लगे। आपके तीन पुत्र थे। सबसे बड़े पुत्र मेरे ताऊजी श्रीमान् महात्मा ब्रजमोहन लाल जी, दूसरे मेरे पिता जी श्रीमान् महात्मा राधामोहन लाल जी तीसरे मेरे चाचा श्रीमान् महात्मा ज्योतीन्द्र मोहन लाल जी थे। मेरे बाबा श्रीमान् चच्चा जी अपने तीनों पुत्रों के साथ पहले कर्नेलगंज, चुन्नीगंज, फिर आर्यनगर में रहे और अपने सत्संग एवं अध्यात्म को निरन्तर बढ़ाते गये। उधर फतेहगढ़ में मेरे बड़े बाबा श्रीमान् महात्मा लाला जी साहब अपने पुत्र श्रीमान् महात्मा जगमोहन नारायण जी के साथ रहे। आप दोनों भाइयों ने निरन्तर अभ्यास एवं कठोर मेहनत से देश-विदेश में अध्यात्म को फैलाया। दोनों भाई अलग-अलग शहर में रहते हुए अपने लक्ष्य को पूरा करते रहे और अध्यात्म को चारों ओर फैलाते गये। आज देश-विदेश में हजारों की संख्या में आप दोनों के अनुयायी मौजूद हैं। दोनों में ही एक दूसरे के प्रति बेहद प्यार एवं लगाव था। 14 अगस्त 1931 के दिन अध्यात्मिक विद्या के सत्संगी भाइयों को फ़ैजयाब करते हुए श्रीमान् लाला जी महाराज समाधिस्थ हो गये। आपकी पवित्र समाधि फतेहगढ़ में बस्ती से बाहर कानपुर रोड़ पर बनी है। यहाँ पर आपके द्वारा शुरू किया गया गुड फ्राइडे के दिन का वार्षिक भण्डारा परिवार के सदस्यों के द्वारा आज भी उसी तरह से मनाया जाता है। आपने यह भण्डारा सत्संगी भाइयों की सुविधा के अनुसार गुड फ्राइडे के दिन छुट्टी होने के कारण ही इस दिन रखा। जिससे किसी को भी आने में कठिनाई न उठानी पड़े।

कानपुर में श्रीमान् चच्चा जी के पास सत्संगी भाइयों का आना-जाना बराबर बना रहा। दिन-दिन भर सत्संग का ही माहौल बना रहता था। मेरे ताऊजी श्रीमान् ब्रज मोहन लाल जी शीघ्र ही नौकरी में तरक्की पा कर कानपुर से बाहर चले गये। उसके बाद बाबा के साथ मेरे पिता जी श्रीमान् राधामोहन लाल जी एवं मेरे चाचा श्री ज्योतीन्द्र मोहन लाल जी रहे। कानपुर में बाबा पहले कर्नेलगंज में रहे लेकिन वहाँ बीमारी फैलने के कारण वह मकान जल्दी ही छोड़ना पड़ा और चुन्नीगंज में रहने लगे। यहाँ पर दिन-प्रतिदिन सत्संगी भाइयों की संख्या बढ़ती गयी। मकान आप लोगों को छोटा पड़ने लगा। तभी आपके एक सत्संगी भाई श्री अवधबिहारी ने, जो कि उस समय कानपुर नगर पालिका में थे, थोड़ी दूर पर जमीन दिलवायी। इस जमीन पर मकान बनवाने का काम एक सत्संगी भाई श्री महादेव प्रसाद श्रीवास्तव, जो गोरखपुर के थे, उनको सौंपा गया। बाबा आपको मुंशी जी के नाम से पुकारते थे। उन्होंने बहुत ही जल्दी उस मकान को बनवा दिया। सन् 1935 में सभी लोग उस नये मकान में रहने लगे। इस मकान से लगे हुए 20 प्लाट और भी आपको मिले। जो कि आपने अपने सत्संगी भाइयों को दिलवा दिए। बाद में उस जगह का नाम आर्यनगर पड़ा और जिस सड़क पर आपका मकान बना उस सड़क का नाम "संत शिरोमणि महात्मा रघुवर दयाल मार्ग" पड़ा। यहाँ पर सत्संग नियमित रूप से चलता रहा और बाबा का नाम चारों तरफ फैलता गया।

सन् 1938 में हमारे परम पूज्य बाबा (श्रीमान् चच्चा जी) को बीमारी ने पकड़ लिया। शरीर के बायें तरफ फ़ालिज का असर हो गया। उस समय हम लोगों के परम पूज्य गुरु महाराज ज़नाब क़िबला श्रीमान् अब्दुल गनी ख़ाँ साहब आये थे। वे तुरन्त बाबा को देखने उस कमरे में आये और उनके सर पर हाथ रखकर तेज आवाज में कहा भगवान की कृपा से शीघ्र ही ठीक हो जायेंगे चिन्ता की कोई बात नहीं है। वैसे ही बाबा ने आँखें खोल दीं। अगले दिन गुरु महाराज ने वापस भौगाँव जाने की इच्छा व्यक्त की और पिताजी के साथ भौगाँव वापस चले गये। कुछ दिन बाद गुरु महाराज ने पिताजी को एक पत्र लिखा कि "हम इसलिए वापस आ गये

क्योंकि हमारे रहते तुम अपने पिता की देखभाल ठीक से नहीं कर सकोगे तथा तुम हमारे में ही लगे रहोगे। इस समय तुम को अपने पिता की ही अधिक से अधिक देखभाल करनी चाहिए।" धीरे-धीरे बीमारी में सुधार होने लग गया। बाबा अपने कमरे का दरवाजा सदैव खुला रखते थे जिससे आने जाने वाले को दिक्कत न हो। आप किसी से पैर छुआना पसन्द नहीं करते थे विशेषकर महिलाओं एवँ बच्चों से। एक सत्संगी भाई ने उनकी इच्छा के बगैर कमरे में कूलर लगवा दिया जिससे बाबा को अच्छा नहीं लगा ओर वे कमरे के बाहर आम के पेड़ के नीचे बैठने लगे। वह कूलर कभी नहीं चलाया गया। 7 जून 1947 को मैं अपने हाईस्कूल की परीक्षा का परिणाम लेकर लगभग 12:30 बजे दोपहर में घर वापस आया तो बाबा को मैंने अकेले बैठे देखा, वैसे उनके पास कुछ लोग बराबर बैठे रहते थे, लेकिन उस समय उनके पास कोई नहीं था। मैं जैसे ही फाटक के अन्दर आया उन्होने मुझसे पानी लाने को कहा, मैंने उनको पानी लाकर पिला दिया। पानी पीने के बाद उन्होंने कमरे में चलने की इच्छा व्यक्त की, तो मैंने उनको सहारा देकर कमरे में बैठा दिया। थोड़ी देर में वे मुझसे बोले बेटा अन्दर जा कर देखो कि तुम्हारी दादी व घर के अन्य सभी लोगों ने खाना खाया कि नहीं? कोई खाने से रह तो नहीं गया? मैं अन्दर देखने गया और लौट कर आया तो देखा कि बाबा आँखें बन्द किए बैठे हैं और मेरे बुलाने पर भी नहीं बोले, तब तक दादी व घर के अन्य सभी लोग भी आ गये। खाना बनाने वाले महाराज ने उनके पैर पर हाथ रखा तो बाबा ने धीमे से उनका हाथ अपने पैर पर से हटा लिया। डा० मंगली प्रसाद ने आकर उनकी जाँच की ओर इन्जेक्शन लगाने की तैयारी करने लगे लेकिन वे इन्जेक्शन लगा न सके, तब हम लोगों को पता चला कि बाबा हमारे बीच नहीं रहे। उस समय दोपहर के लगभग 1 बज कर 50 मिनट थे। बाबा के निधन का समाचार चारों तरफ फैल गया। घर में सत्संगी भाइयों की भीड़ लगने लगी। सभी सत्संगी भाई समाधि बनाने के इच्छुक थे किन्तु जगह नहीं थी। तभी बाबा के एक शिष्य श्री बिहारी सिंह आये और उन्होंने अपनी जमीन पर, जो कि नौबस्ता में स्थित थी, समाधि बनाने के लिए कहा। एक दूसरे

वकील शिष्य श्री काशी नाथ भल्ला द्वारा जमीन के कागजात भी बनवा दिए गये। दूसरे दिन 8 जून को आपकी अन्तिम यात्रा घर से पैदल ही नौबस्ता के लिए चली, रास्ते में जो भी मिला वह उसमें शामिल होता गया। लगभग 6 मील का रास्ता पैदल तय करने के बाद एक शिष्य श्री सतीश चन्द्र लाहा द्वारा आग्रह किये जाने पर उनकी कार से पूज्य बाबा को समाधि स्थल तक पहुँचाया गया। वहाँ पर आपकी सदेह समाधि बनायी गयी। इस समाधि को पूरा बनवाने में लगभग दो वर्ष का समय लग गया। यह समाधि नौबस्ता गल्ला मण्डी के बगल में स्थित है। इस पवित्र समाधि को बने हुए आज लगभग 58 वर्ष हो गये और आज भी यहाँ पर हर दिन दर्शन करने वालों का तांता लगा रहता है। प्रतिवर्ष बसन्त पंचमी के दिन बाबा (श्रीमान् चच्चा जी) अपने बड़े भाई महात्मा श्रीमान् रामचन्द्र जी (लाला जी साहब) का जन्मोत्सव मनाया करते थे जो आज भी मेरे परिवार के सभी सदस्यों द्वारा बसन्त पंचमी के दिन भण्डारे के रूप में मनाते हैं। इस भण्डारे के मौक़े पर दो दिन पहले से सत्संग एवं अध्यात्मिक शिविर का आयोजन किया जाता है जिसमें बहुत से नये एवं पुराने लोग शामिल होते हैं और सत्संग का लाभ उठाते हैं। बहुत से शिष्यों द्वारा अलग-अलग शहरों में भी बसन्त पंचमी के दिन भण्डारे एवं सत्संग का आयोजन किया जाता है।

गुरु मिलन

आप दोनों भाई श्रीमान् महात्मा रामचन्द्र जी (लाला जी) एवं श्रीमान् महात्मा रघुवर दयाल जी (चच्चा जी) अपने पिता जी के साथ कायमगंज में जिस घर में रहते थे वह मकान बहुत छोटा था। अतः पढ़ाई के लिए आप लोगों ने मदरसा मुफ्ती साहब में एक कोठरी किराए पर ले ली। ज़नाब क़िबला लाला जी साहब बचपन से ही बहुत शान्त स्वभाव के थे। सभी के साथ अच्छा व्यवहार एवं बुजुर्गों के लिए आपका व्यवहार बहुत ही आदर प्रिय होता था। वैसे ही छोटे भाई श्रीमान् चच्चा जी का था। बस केवल अन्तर इतना था कि श्रीमान् लाला जी साहब गम्भीर

तथा श्रीमान् चच्चा जी बहुत मनोरंजन प्रिय थे। जहाँ भी जाना होता था तो दोनों एक साथ ही आते-जाते थे। लोग उन्हें राम-लक्ष्मण की जोड़ी कहते थे। बचपन से ही आप लोगों में एक सन्त के लक्षण मालुम होते थे ऐसा लोगों ने बताया। अपनी पढ़ाई-लिखाई में बहुत गम्भीर, समय का पालन करने वाले, सत्य का साथ देने वाले तथा बेकार की मित्रता से दूर रहने वाले थे। पढ़ने के लिए समय से स्कूल जाना होता था। नई कोठरी लेने के बाद पढ़ाई में और तेजी आ गयी। कुछ ऐसा ही इत्तफ़ाक था कि बगल की एक कोठरी में एक बुजुर्ग रहते थे। जब स्कूल जाने के लिए आप लोग निकलते थे तो बुज़ुर्गवार बाहर बैठे मिलते थे। इन लोगों के लिये बुजुर्गों का आदर करना इनके जीवन का अंग था। जैसे ही उन बुज़ुर्गवार को देखते थे वैसे ही ये दोनों सिर झुकाकर अदब से सलाम करके स्कूल चले जाते थे। कुछ ऐसा संयोग हो रहा था कि ये दोनों भाई निकलते थे तो उन बुजुर्ग की नजर आप लोगों पर पड़ जाती थी। एक बार सर्दी का मौसम था, पानी बरसने लगा, स्कूल से आते समय आप दोनों भीग गये, ऐसा लगता था कि वे बुजुर्ग आप दोनों की प्रतीक्षा में बैठे थे। जैसे ही ये लोग आये उन्होंने इन दोनों से कहा कि "बेटे तुम लोगों को कोई परेशानी न हो तो कपड़े बदल कर मेरे पास आ जाओ, अंगीठी बहुत तेज जल रही है।" इन दोनों की यह हिम्मत न पड़ी कि उनको मना कर सकें। आप दोनों तुरन्त कपड़े बदल कर आ गये और उन बुजुर्ग के पास बैठ गये। उन्होंने आप दोनों को एक कम्बल उढ़ा दिया। इन लोगों को पता नहीं चला कि कब सो गये और कोई होश नहीं रहा। उस दिन से उनका आपस में सम्बन्ध ऐसा हुआ कि इन दोनों की जिन्दगी ही बदल गयी। इन बुज़ुर्गवार का नाम श्री फज़्ल अहमद ख़ाँ साहब था, जिनको हुजूर महाराज कहते थे। ये नक्शबंदिया सिलसिले के बहुत जाने माने सन्त थे। आप रहने वाले करीब आठ मील की दूरी पर स्थित रायपुर के थे परन्तु मदरसे में नौकरी के कारण कायमगंज में कोठरी लेकर रहते थे। इनके पास एक बुजुर्ग सन्यासी स्वामी ब्रह्मानन्द जी आते थे, उनकी गिनती बहुत बड़े सन्तों में थी। उनका कहना था कि ज़नाब हुजूर महाराज बिरले ही सन्त पुरुष हैं। भगवान की

मर्जी क्या होती है यह कोई नहीं जानता। ज़नाब श्रीमान् लाला जी एवं श्रीमान् चच्चा जी का जन्म एक फकीर की दुआ से हुआ था। बहुत कम उम्र में जब श्रीमान् लाला जी साहब की आयु 17 वर्ष की थी एवं श्रीमान् चच्चा जी महाराज की आयु 15 वर्ष की थी तब आप दोनों का सम्बन्ध ऐसे महान सन्त से हो गया। दूसरी तरफ कुछ ऐसा था कि ज़नाब हुजूर महाराज के गुरु महाराज क़िबला अहमद अली ख़ाँ साहब ने हुजूर महाराज से ये कहा कि, "मरे गुरु महाराज ने मुझसे कहा था कि तुम्हारे पास दो हिन्दू बच्चे आयेंगे तुम उनका ध्यान रखना और अध्यात्मिक शिक्षा देना, पर मेरे पास तो वे दोनों बच्चे नहीं आये। लेकिन मेरे गुरु महाराज की बात गलत नहीं हो सकती, हो सकता है कि वे दोनों हिन्दू बच्चे यदि मेरे पास नहीं आये हैं, तो तुम्हारे पास आयेंगे। यदि वे तुम्हारे पास आ जायें तो तुम उनका ख्याल रखना।" हुजूर महाराज ने यह माना कि सन्तों महात्माओं की बात गलत नहीं हो सकती और वे उन दोनों हिन्दू बच्चों के इन्तजार में लग गये। तभी कुछ समय बाद आप दोनों भाई हुजूर महाराज के सम्पर्क में आये। हुजूर महाराज ने यह महसूस किया कि ये दोनों भाई ही वे दोनों हिन्दू बच्चे हैं जिनका जिक्र आपके गुरु महाराज ने किया था। इस तरह से हुजूर महाराज ने हमारे इन दोनों बुजुर्ग भाई महात्मा श्रीमान् लाला जी एवं महात्मा श्रीमान् चच्चा जी की देखभाल शुरू कर दी। ये दोनों भी उनमें ऐसे लग गये कि जिन्दगी भर नहीं छूटे।

आप दोनों की अध्यात्मिक शिक्षा पहले ही दिन से शुरू हो गयी हुजूर महाराज ने सन् 1896 में श्रीमान् लाला जी साहब को दीक्षा दी (बैत करना) और श्रीमान् चच्चा जी साहब को लगभग 2 वर्ष बाद दीक्षा दी। कुछ दिनों के बाद हुजूर महाराज रायपुर चले गये परन्तु इन दोनों पर उनके जाने का कोई प्रभाव नहीं पड़ा और हर दिन रायपुर उनके पास जाते रहे। ज़नाब हुजूर महाराज भी हर समय आप लोगों को अपनी निगाह के सामने रखते थे। कभी न मिल पाने पर बहुत बेचैन हो जाते थे। आप दोनों के लिए कायमगंज की दूरी कोई मायने नहीं रखती थी।

आँधी-पानी भी आप लोगों के रास्ते की रुकावट नहीं बनी। हुजूर महाराज के बहुत शिष्य थे लेकिन वे आप दोनों की तरफ विशेष ध्यान रखते थे एवं प्यार करते थे।

एक बार की बात है - हुजूर महाराज अपने कमरे में बैठे थे, तब उन्होने श्रीमान् चच्चा जी, जिनको प्यार से नन्हे कहते थे, को बुलाया और कहा कि तुम मेरे कमरे के बाहर बैठना और ध्यान रखना कि कोई अन्दर मेरे पास न आने पाये। आप उनकी आज्ञा से बाहर बैठ गये। वे ध्यान में ऐसे मग्न हो गये कि उनको पता ही नहीं चला कि कब कोई दो लोग आये और हुजूर महाराज के कमरे में चले गये। जब वे लोग वापस चले गये तब हुजूर महाराज ने आपको अपने पास बुलाया और कहा कि मैंने तुम को बाहर इसलिए बैठाया था कि अन्दर कोई आने न पाये पर तुम देख नहीं पाये, यह भी अल्लाह की ही मर्जी है और उनके मुख से निकला:-

हुक्म है इस कूचे में कोई आने न पाये,
जो आ जाये वह जाने न पाये ।

ऐसा लगता था कि आपकी जिन्दगी में कुछ ऐसा ही हुआ, आपके पास जो आ गया वह आप में ही होकर रह गया। वह कभी वापस नहीं हो पाया। इस बात को आप अकसर सब को बताया करते थे।

धीरे-धीरे समय बीतता गया, सन् 1907 में हुजूर महाराज ने श्रीमान् लालाजी एवं श्रीमान् चच्चा जी को अपने पास बुलाया और कहा कि लगता है कि वक्त वापिसी बहुत जल्दी ही आने वाला है। आप दोनों उनकी इस बात को समझ नहीं सके। एक दिन अचानक हुजूर महाराज ने श्रीमान् लाला जी साहब को अपने पास बुलाया और कहा कि तुम नन्हे (श्रीमान् चच्चा जी साहब) को घर पर छोड़कर वापस आ जाओ। आपने ऐसा ही किया। ऐसा लगता था कि हुजूर महाराज को अपने अन्तिम समय का ज्ञान हो गया था। 30 नवम्बर 1907 को आपने श्रीमान् लाला जी साहब से कहा कि “अब मेरा वक्त आ गया है, मैं अब चल रहा हूँ मेरे न

रहने के बाद तुम दोनों को मेरे गुरु भाई श्रीमान् ज़नाब अब्दुल गनी ख़ाँ साहब के पास भौगाँव जाना होगा, और जिस तरह से तुम लोग मेरे पास लगे रहे उसी तरह से उनके पास लगे रहना, उनमें और हमारे में कोई अन्तर न करना। मैंने तुम से नन्हे को इसलिए छोड़कर आने को कहा क्योंकि मैं उसको बहुत प्यार करता हूँ, वह मेरे खिलौने जैसा है, उसके रहते मुझे अन्तिम समय में कठिनाई होती, तुम उसका ख्याल रखना।" यह कहते हुए उन्होंने अपनी आँखें सदैव के लिए बन्द कर ली। रायपुर क़स्बे में आपकी समाधि बनायी गयी। कुछ दिन आप दोनों वहीं रहे। उसके बाद वापसी करके कायमगंज न रहकर आप लोग फतेहगढ़ में निवास करने लगे।

अपने गुरु महाराज की आज्ञा के अनुसार आप दोनों ने भौगाँव में श्रीमान् ज़नाब अब्दुल गनी ख़ाँ साहब के यहाँ जाना शुरु कर दिया। यहाँ भी आप लोग उसी तरह जाते रहे जैसे कायमगंज में श्रीमान् हुजूर महाराज के पास जाते थे। यहाँ पर लगभग 4 वर्ष तक जाने के बाद श्रीमान् ज़नाब क़िबला अब्दुल गनी ख़ाँ साहब ने आप लोगों से कहा कि अब आप लोग अपनी जगह पर वापस जा कर अध्यात्म एवं रुहानियत के काम में लगें और जब मौका मिले तो मेरे पास आ जायें। उसके बाद आप लोग उनकी आज्ञानुसार उसी काम में लग गये। श्रीमान् चच्चा जी कुछ समय तक अपने बड़े भाई श्रीमान् लाला जी साहब के साथ फतेहगढ़ में रहे लेकिन फिर नौकरी के कारण फतेहगढ़ की अलीगढ़ तहसील में जाना पड़ा जो कि गंगा पार थी। वहाँ आप मुंशी चिम्मन लाल साहब की खिदमत में रहे। वहाँ मकान की अलग व्यवस्था थी। मुंशी चिम्मन लाल भी हुजूर महाराज के शिष्य थे लेकिन श्रीमान् चच्चा जी महाराज से आयु में काफी बड़े थे। यहाँ पर उनके साथ रहना आपका बहुत बड़ा कठोर तप था। नौकरी में कभी पैसा मिलता था तो कभी नहीं मिलता। आने जाने वालों का सिलसिला लगा रहता एवं बच्चों की पढ़ाई भी चला करती। धीरे-धीरे आपको बीमारी भी लग गयी। लेकिन आपने अपनी परेशानियों को कभी भी श्रीमान् लाला जी को नहीं बताया। सबके सामने खुश रहते थे।

श्रीमान् लाला जी साहब को जब किसी ने आपकी परेशानियों को बताया तो वे तुरन्त श्रीमान् चच्चा जी के पास गये और उनको परिवार सहित फतेहगढ़ वापस ले आये। यहाँ पर आप दोनों ने सन् 1925 तक साथ में रहकर अध्यात्मिक एवं रुहानियत का सफर तय किया।

अध्यात्मिक जीवन

हमारे इन बुजुर्गों का अध्यात्मिक जीवन बहुत ही कठोर एवं नियमित रहा है। आरम्भ में आप लोग साथ में फतेहगढ़ में रहते थे। यहाँ पर सत्संगी भाइयों का आना-जाना बराबर बना रहता था। नित्य सुबह-शाम सत्संग एवं ध्यान होता था। सुबह-शाम सभी प्रेमी सत्संगी भाई लोग यथास्थान पर स्वतः ही बैठ जाते थे। आप दोनों भी सभी के साथ जमीन पर ही बैठते थे। यह सत्संग लगभग 2 घंटे चलता था। श्रीमान् लाला जी साहब समय से कचहरी चले जाते थे। शाम को लौटने पर फिर सत्संग में बैठ जाते थे। यदि श्रीमान् चच्चा जी साहब फतेहगढ़ में होते थे तो दिन भर उनकी बैठक जमी रहती थी और सत्संगी भाई लोग उनमें लगे रहते थे। एक वरिष्ठ सत्संगी भाई ने, जिनका नाम श्री प्रभु दयाल जी था, जिनको लोग पेशकार साहब के नाम से भी जानते थे, सत्संग के सिलसिले में कुछ इस प्रकार कहा है -

"सत्संग का समय होते ही श्रीमान् लाला जी साहब एक साधारण सी धोती और सफेद गाढ़े की टोपी पहने हुए पधारे। हम सब लोग खड़े हो गये। आपने उठने को मना किया। एक चारपाई बिछी रहती थी उस पर आप कुछ लोगों के साथ किनारे पर बैठ जाते थे। थोड़ी देर शान्ति रहती थी। बहुत से लोग आँखें बंद करके शान्ति पूर्वक ध्यान में बैठे रहते थे। ये क्रम लगभग एक घंटा चलता था। ध्यान का कार्यक्रम खत्म होने के बाद लाला जी साहब कुछ बातें कहते थे जो सत्संग के सिलसिले की होती थी। इसमें अधिकतर वे अपने गुरु महाराज की ही बात करते थे। जितनी देर सत्संग होता था सभी लोग एक टकटकी लगाये उनकी बात सुना

करते थे। उनकी बातें सब को अपनी ओर आकर्षित करती थी। सतगुरु का कार्य अपने निज शब्द सुना कर सब को अपने समान कर लेना होता है। वे जिज्ञासु में ऐसा आकर्षण पैदा कर देते थे कि वह उन्हीं में ही लीन हो जाता था और धीरे-धीरे अपना आपा खत्म करके उनमें मिल जाते थे। सत्संग का यह क्रम नित्य सुबह शाम चलता था। श्रीमान् लाला जी साहब जब नहीं होते थे तब चच्चा जी महाराज सत्संग कराते थे। जब वे पधारते थे तो उनकी वेशभूषा एकदम फ़क़ीराना होती थी। किसी ने कहा हुक्का ले आओ तो उन्होंने कहा ले आओ तुम्ही तो हमारे सबसे ज्यादा चाहने वाले हो, और उन्होने इस हुक्के की बात पर एक बात कह डाली:-

हुक्के का पीना खलल आबरु है,
मगर इसमें एक नेक खूँ है,
खींचो तो अल्लाह, फूँको तो हू है।

श्रीमान् चच्चा जी के शब्दों में एक अजीब सा जादू होता था। जब वे बोलते थे तो उपस्थित सभी लोग शान्ति पूर्वक उनके एक-एक शब्द को सुनते थे और उनकी बातों में आनन्द लेते थे। लोग बैठे रहते थे, पूरा दिन ऐसे ही निकल जाता था। शाम को जब श्रीमान् लाला जी साहब के आने का समय होता था तब यह महफिल उठती थी। लाला जी के कचहरी से आने के बाद उनके अनुसार सत्संग शुरु हो जाता था।"

सन् 1925 में मेरे पूजनीय बाबा (श्रीमान् चच्चा जी) को अपने लड़कों की नौकरी के कारण से कानपुर आना पड़ा। कर्नेलगंज के जिस मकान में आप लोग रहते थे। वह मकान सत्संग के कारण धीरे-धीरे छोटा पड़ने लगा। उस कमरे में इतनी अधिक भीड़ जो जाती थी कि सभी लोगों का बैठना मुश्किल हो जाता था। लेकिन फिर भी सभी लोग दिन-दिन भर बैठे रहते थे। न किसी को खाने-पीने की सुध रहती थी और न ही किसी को सुख-दुख की सुध रहती थी। कितनी भी तकलीफ में कोई होता था आपके सत्संग में आने के बाद ऐसा प्रतीत होता था कि

उसको कोई तकलीफ है ही नहीं। कुछ समय बाद मकान में जगह की कमी के कारण से पास में एक छोटा मकान ले लिया गया। मकान मालिक धनी राम खटिक आपके सत्संग में बराबर आते थे। उनका कहना था कि श्रीमान् चच्चा जी के आने के बाद से उनकी किस्मत ही खुल गयी। उस मकान में लगभग आठ वर्ष रहने के बाद बीमारी फैलने के कारण उस मकान को छोड़ कर चुन्नी गंज आना पड़ा। यहाँ पर भी सत्संग का वैसा ही आलम बना रहा। कुछ समय यहाँ रहने के बाद आप अपने निज मकान आर्यनगर में रहने लगे। यहाँ आने के बाद आपकी चर्चा कुछ ऐसी बढ़ी कि हर दिन आने वालों की संख्या बढ़ती ही गयी। जब बाबा ध्यान एवं सत्संग कराते थे तो लोग इतने लीन हो जाते कि अपना सब काम ही भूल जाते। आपका सत्संग दिन-प्रतिदिन बढ़ता गया इसमें हर वर्ग के लोग आते थे। आने वालों में राजा-महाराजे भी होते थे। बाबा उन लोगों से कहते कि आप लोग बेकार तकलीफ करते हैं मैं स्वयं ही आप लोगों के पास आ जाता। आपने कभी किसी से कहा था कि "ऐसे लोगों के आने से शोहरत बढ़ती है जिससे मेरा रहना मुश्किल हो जायेगा।" बाबा स्वयं भी सत्संगी भाइयों के साथ जमीन पर ही बैठते थे कोई ऊँच-नीच का अन्तर नहीं रहता था। उनकी कोशिश रहती थी कि सत्संगी भाइयों में कोई संकोच न रहे। आपका सत्संग नियमित रूप से सुबह शाम तो होता ही था लेकिन आना-जाना दिन भर बना रहता था। बाहर से आने वाले लोग भी बराबर बने रहते थे। सत्संग के बीच में एक प्रिय शिष्य श्री अयोध्या नाथ भल्ला जी दिन भर के समाचार भी बाबा को सुनाते थे। इसी क्रम में एक रोचक घटना है कि द्वितीय विश्वयुद्ध के समय कानपुर में अत्यधिक खतरा हो गया था। सभी लोग आपसे कहते कि कानपुर से बाहर किसी सुरक्षित स्थान पर आप लोग चले जायें, बाबा सभी से हाँ-हाँ कर देते थे। जयपुर से आने वाले सत्संगी भाइयों में वहाँ के एक बड़े जमींदार भी आते थे, उन्होंने भी आपसे आग्रह किया कि जयपुर आ जायें। उन्होंने अपना एक बड़ा निवास, जो महल की तरह था, आपके लिए खाली भी करवा दिया। बाबा वहाँ स्वयं तो गये नहीं पर कुछ लोगों को वहाँ भिजवा दिया। बाद में कहा 'जो खुदा

यहाँ है, वो ही खुदा वहाँ है वही सब की देखभाल करने वाले हैं।' बाबा यहीं बने रहे और लड़ाई समाप्त भी हो गयी। बाबा कहा करते थे कि किसी की सेवा करना भी एक बहुत बड़ा सत्संग है। मन से की गयी सेवा कभी व्यर्थ नहीं जाती है। आप स्वयं भी आने वाले सत्संगी भाइयों के साथ ऐसे ही लगे रहते थे। सन 1938 में आपको फ़ालिज का असर हो गया। बायाँ अँग ज्यादा अच्छा काम नहीं करता था। इस कारण अपना नित्य क्रम भी ठीक से नहीं कर पाते थे। धर के अन्य सदस्य आपके सब काम करते थे। एक सत्संगी भाई श्री ब्रज नारायण मेहरोत्रा ने, जिनको लोग मल्लू बाबू के नाम से पुकारते थे, बाबा से प्रार्थना की कि वह सुबह आकर उनके हाथ-मुँह धोने का काम करना चाहते हैं। बाबा किसी से काम लेना पसन्द नहीं करते थे। लेकिन उनके आग्रह करने पर आपने कोई एतराज नहीं किया। उस दिन से श्री मेहरोत्रा जी बराबर बाबा के अन्तिम समय तक नित्य सुबह-शाम समय से आते और हाथ-मुँह धुलाते थे। बाबा प्रतिदिन उनका इन्तजार करते थे उन्होंने जाड़े-गर्मी व बरसात की भी परवाह नहीं की। हर दिन ठीक समय पर उपस्थित हो जाते थे। कुछ ऐसा देखा गया है कि गुणी लोगों से इच्छुक लोग लग-लिपट कर उनके गुण को हासिल करने की कोशिश में लगे रहते हैं।

मनुष्य को सेवा करने के लिए मन से यह निकाल देना चाहिए कि मैंने सेवा की। यदि यह मन में रह गया कि मैंने सेवा की तो उसका मूल्य व्यर्थ हो गया। ऐसे अनेक वृत्तान्त हैं। अतः सेवा धर्म सबसे ऊँचा है। भगवान को पाने के लिए भावना, लगन एवं गुरु प्रेम यही मुख्य हैं। अपने गुरु पर विश्वास बहुत ही आवश्यक है बाबा कहते थे कि जिसने अपने आपको मिटा कर स्वयं को गुरु को सौंप दिया उसका बेड़ा पार हो गया। यही अखण्ड गुरु प्रेम है। इसी क्रम में एक सत्संगी भाई श्री राम प्रसाद माथुर जी का नाम सामने आता है। यह बाबा में ऐसे लीन थे कि हर समय चच्चा-चच्चा का नाम जपा करते थे और हर समय उन्हीं की याद करते थे। हर एक से बाबा की ही बात करते थे। उन्होंने कुछ पदों की रचना भी की थी। जिसमें एक मुख्य इस प्रकार है:-

चच्चा-चच्चा मैं पुकारुँ तेरे दर के सामने,
तेरी चर्चा हम करेंगे हर बशर के सामने।

बाबा सन् 1946 अक्टूबर में हरिद्वार गये। उनके साथ अनेक सत्संगी भाई लोग भी गये। वहाँ पर कुछ विशेष लोग भी आये हुए थे। वहाँ कुछ साधु-सन्यासी भी सुबह शाम आते थे। एक साधु को मैंने देखा जो सुबह गंगा जी तैर कर आते थे, और शाम होने पर वैसे ही वापस चले जाते। एक दिन उन साधु महाराज ने बाबा से अकेले में मिलने के लिए कुछ समय माँगा, बाबा किसी से ना नहीं कहते थे अतः अगले दिन की बात तय हो गयी। वे अगले दिन कुछ और लोगों को लेकर आये और बाबा से अकेले में उन लोगों ने कुछ बातें की। किसी को कुछ नहीं पता कि उन लोगों में क्या बातें हुई। बस उन लोगों के जाने के बाद बाबा ने सभी लोगों से कानपुर चलने की इच्छा व्यक्त की। सभी लोग कानपुर वापस हो गये। कानपुर में घर पर वापस आने पर देखा कि वे सभी साधु घर पर ही मौजूद थे। वे सब लोग लगभग एक सप्ताह तक बाबा के साथ रहे। उन लोगों के उस रहस्य को कोई न समझ पाया। कुछ महीनों बाद 1947 में बाबा हम लोगों के बीच न रहे।

मेरे परम पूज्य बाबा श्रीमान् चच्चा जी बहुत कम बोलते थे। उनको जो कुछ कहना होता उसको बहुत संक्षिप्त शब्दों में कहते और जो उपदेश देते उसको स्वयं भी निभाते थे। उनके अनुसार किसी से लिप्त न होना पीरी-मुरीदी से दूर रहना, रुपये-पैसे से दूर रहना, किसी से इच्छा न रखना और अपने पास आने वाले सत्संगी भाइयों को अपने भाई की तरह प्यार देना। वे कहते थे कि पूजा को कभी भी पेशे के रूप में नहीं लेना चाहिए।

मेरे परम पूज्य बड़े बाबा महात्मा रामचन्द्र जी महाराज (लालाजी साहब) एवं मेरे बाबा महात्मा रघुबर दयाल जी (चच्चा जी महाराज) के पास काफी संख्या में

लोग आते थे। आपने बहुतों को दीक्षा व अध्यात्मिक शिक्षा दी। कुछ प्रमुख लोगों के नाम निम्नलिखित है:-

1. पंडित प्यारे लाल जी (फतेहगढ़)
2. डा॰ चतुर्भुज सहाय (एटा-मथुरा)
3. डा॰ श्याम लाल जी (गाजियाबाद)
4. डा॰ श्री कृष्ण लाल जी भटनागर (सिकन्दराबाद, बुलन्द शहर)
5. श्री सेवती प्रसाद जी मुखतार (कासगंज)
6. श्री श्याम बिहारी लाल जी पोस्ट मास्टर (फतेहगढ़)
7. श्री रामचन्द्र जी (शाहजहाँपुर)
8. श्री मदन मोहन लाल जी (शाहजहाँपुर)
9. श्री प्रभु दयाल जी पेशकार (कानपुर)
10. श्री सूरज नारायण जी पेशकार (उरई)
11. श्री सुखबासी लाल जी (उरई)
12. डा॰ राम नारायण जी वर्मा (कानपुर)
13. श्री भवानी शंकर जी (उरई)
14. श्री कालीचरण जी (फतेहगढ़)
15. ठाकुर राम सिंह जी सब इन्स्पेक्टर पुलिस (जयपुर)
16. ठाकुर मूल सिंह जी एस॰ पी॰ (जयपुर)
17. श्री हीरा लाल जी जोशी (रावटी, रतलाम)
18. पं॰ काशी नाथ जी (फरुर्खाबाद)
19. पं॰ गिरधारी लाल (फतेहगढ़)
20. श्री रामस्वरूप जी मुनीम (फतेहगढ़)
21. श्री मंगी (फतेहगढ़)
22. श्री बुद्धसेन जी (फतेहगढ़)
23. श्री अवध बिहारी लाल जी (फतेहगढ़)

24. श्री कृष्णा सहाय जी हितकारी (कानपुर)
25. श्री कृष्ण चन्द्र भार्गव (दिल्ली)
26. दादा कर्ण सिंह (इलाहाबाद)
27. श्री रामचरण लाल कोंच (उरई)
28. श्री शिव नारायण जी गांधी (कानपुर)
29. प्रो॰ राजेन्द्र कुमार जी श्रीवास्तव
30. श्री मनमोहन लाल भटनागर सिकन्दराबाद (यू॰ पी॰)
31. श्री उमा शंकर जी मुखतार (कासगंज)
32. पंडित माताप्रसाद जी (फतेहगढ़)
33. पं॰ हरिवंश लाल त्रिपाठी (लखनऊ)
34. श्री हरी शंकर माथुर (इलाहाबाद)
35. श्री राम प्रसाद माथुर (इलाहाबाद)
36. श्री काशी नाथ भल्ला, एडवोकेट (कानपुर)
37. डा॰ बी॰ एन॰ भल्ला, एडवोकेट (कानपुर)
38. श्री भोला नाथ भल्ला, एस॰ पी॰ (कानपुर)
39. श्री अयोध्या नाथ भल्ला (कानपुर)
40. श्री रामेश्वर नाथ भल्ला (कानपुर)
41. डा॰ मंगली प्रसाद (कानपुर)
42. सेठ अवध बिहारी लाल (कानपुर)
43. पं॰ शीतला प्रसाद पाण्डे (कानपुर)
44. श्री महिमा चरण (कानपुर)
45. पं॰ चन्द्रिका प्रसाद (कानपुर)
46. श्री महावीर प्रसाद निगम, तहसीलदार, (कानपुर)
47. पं॰ मेवाराम बाजपेई (कानपुर)
48. प्रो॰ काली शंकर भटनागर (कानपुर)

49. श्री नवल किशोर भरतिया (कानपुर)
50. श्री रघुनाथ प्रसाद श्रीवास्तव (लखनऊ)
51. चौधरी मिट्ठू लाल जी (साधक जी)
52. प्रो॰ जयदेव सिंह (कानपुर)
53. राजा साहब सुरपति सिंह
54. बाबू राम कटियार (कानपुर)

महात्मा राधा मोहन लाल जी

मेरे पिता जी महात्मा श्रीमान् राधा मोहन लाल जी पूज्य चच्चा जी महाराज के मँझले पुत्र थे। अपने पिता के न रहने के बाद आपने ही सत्संग का कार्यभार संभाला और सिलसिले को आगे बढ़ाया। आप बाबा के बहुत ही स्नेही थे। मेरे पिता जी का जन्म 24 अक्टूबर सन् 1900 को दीपावली के दिन फतेहगढ़ में हुआ था। बचपन का अधिकतर समय दोनों ही बाबाओं के साथ व्यतीत हुआ। बाबा बताते थे कि आप बचपन से बहुत संकोची एवं शर्मीले थे पर बड़े होने पर बहुत तेज दिमाग के, साहसी, निर्भयी और निःसंकोची हो गये थे। बाबा के अलीगढ़ चले जाने के कारण आप वहाँ से प्रतिदिन फतेहगढ़ आकर पढ़ाई करते थे, कभी-कभी फतेहगढ़ में आप अपने पूज्य ताऊ जी महाराज महात्मा श्रीमान् लाला जी महाराज के पास रुककर भी पढ़ते थे। हाईस्कूल की परीक्षा पास करने के बाद आपकी नौकरी कानपुर कचहरी में लग गयी। दोनों लड़कों की नौकरी कानपुर में लग जाने के कारण बाबा अपने पूरे परिवार के साथ कानपुर आकर बस गये। मेरे ताऊ जी एवं महात्मा श्रीमान् चच्चा जी महाराज के बड़े पुत्र श्रीमान् ब्रज मोहन लाल जी नौकरी में तरक्की पा कर बाहर चले गये। अतः आपने ही घर की सारी ज़िम्मेदारियों को निभाया।

आप बचपन से अपने पिताजी के साथ सत्संग में समय दिया करते थे। शुरु से ही आध्यात्मिक माहौल रहने के कारण आप उसमें पूरी तरह ढ़ल चुके थे। 15 फरवरी 1920 को बाबा श्रीमान् चच्चा जी महाराज ने श्रीमान् लाला जी महाराज के साथ में महात्मा श्रीमान् अब्दुल गनी ख़ाँ साहब ज़नाब मौलवी साहब से आपको दीक्षा दिलवायी। 28 फरवरी 1926 को गुरु महाराज ने आपको इजाजत खिलाफत दी। उन्होंने अपने गुरु महाराज के अनुसार अपनी पूजा का नियम भी नहीं तोड़ा और दिन-प्रतिदिन आध्यात्मिक सफलता प्राप्त करते रहे। उन्होंने, अपने निज नियमों का कठोरता से पालन किया। 7 जून 1947 को अपने पिता जी के न रहने

के बाद आपने सत्संग का कार्यभार संभाला। अपने पिता जी की तरह सब को अपने साथ लेकर चले। आपके छोटे भाई श्रीमान् ज्योतीन्द्र मोहन लाल भी आपके साथ बराबर लगे रहे। सत्संग में आने वालों को परिवार के सदस्यों की तरह ही प्यार देते थे। पिता जी के अपने परिवार के अतिरिक्त मुंशी जी (श्री श्याम बिहारी लाल जी), जो बाबा के पास सन् 1930 में आ गये थे, अपने अन्तिम समय तक हमारे परिवार के साथ ही रहे। इनके अतिरिक्त श्री विद्यसागर शुक्ला जी, जो फतेहगढ़ के थे, तथा कन्हैयालाल माथुर, जो मथुरा के थे, सदैव मेरे पिताजी के साथ रहे। जो लोग बाहर से आते थे उनको भी वैसा ही प्यार देते थे। धीरे-धीरे सत्संग का कार्यभार बढ़ता गया। आप कहीं जाना अधिक पसन्द नहीं करते थे। सन् 1958 में यूनेस्को से बुलावा आया पर वहाँ के बुलावे को भी इन्कार कर दिया। कुछ ही समय में आपकी ख्याति देश-विदेश में भी फैलने लगी। विदेशी लोग भी सत्संग में आने लग गये। ये विदेशी लोग आपके पास आकर अध्यात्म को सीखते रहे और अपने देश वापस जा कर मेरे पूज्य बाबा (श्रीमान् चच्चा जी) एवं पूज्य पिता जी का नाम फैलाया। जिन में प्रमुख रूप से 1948 में फ्रांस से आयी लिलियन एवं 1961 में आयीं इरीना ट्वीडी का नाम सामने आता है। लिलियन कानपुर में 18 वर्ष तक अपने गुरु, मेरे पिता जी, के साथ रही और सत्संग का लाभ उठाते हुए अध्यात्म को सीखा। यहाँ पर सीखने के बाद अपने देश वापस जा कर अपने गुरु महात्मा श्रीमान् राधा मोहन लाल जी के नाम से वहाँ पर संस्था खोली और अध्यात्म को फैलाया।

बड़े लड़के होने के कारण से मैं भी अपने पिता जी के साथ बराबर लगा रहता था। सन् 1946 में पिता जी ने अपने गुरु ज़नाब क़िबला मौलवी साहब श्री अब्दुल गनी ख़ाँ साहब से मुझे भी दीक्षा दिलवायी और 1965 में भण्डारे के अवसर पर मुझे इजाजत खिलाफत दी। उसके बाद सन् 1966 में अचानक आपको बीमारी ने पकड़ लिया और 21 जुलाई 1966 को हार्ट अटेक हो जाने के कारण आपका निधन हो गया। सभी सत्संगी भाइयों की इच्छा को देखते हुए मेरे परम पूज्य बाबा

श्रीमान् चच्चा जी महाराज की समाधि स्थल पर आपकी भी सदेह समाधि बनायी गयी। यह समाधि आपकी इच्छानुसार बाबा के पैर की तरफ बनायी गयी।

गुरु सम्पर्क

मेरे पिता जी महात्मा श्रीमान् राधा मोहन लाल जी को बाबा ने अपने बड़े भाई श्रीमान् महात्मा लालाजी साहब के सामने अपने गुरु ज़नाब क़िबला मौलवी साहब श्रीमान् महात्मा अब्दुल गनी साहब से दीक्षा दिलवायी। दीक्षा मिलने के बाद आपकी जिन्दगी ही बदल गयी। मेरे पिता जी ने मुझे अपने मुख से गुरु से उनका सम्बन्ध कैसे हुआ बताया था। उस बताई हुई जानकारी को मैं उन्हीं के शब्दों में यहाँ लिख रहा हूँ -

"जब मैं (श्रीमान् राधा मोहन लाल जी) छोटा था तब घर में सत्संग के कारण बहुत लोगों का आना-जाना था किन्तु मैं किसी के सामने नहीं जाता था। मेरे पिताजी (श्रीमान् चच्चा जी) के गुरु महाराज अकसर घर में आते थे पर मैं शर्म एवं संकोच वश उनके सामने नहीं जाता था। एक रोचक घटना है जिसने मेरे जीवन का क्रम ही बदल दिया, उस समय मेरी आयु लगभग 9 वर्ष की थी। गुरु महाराज जी घर पर ठहरे थे। उनके डर एवं संकोच के कारण मैं कमरे से बाहर नहीं निकलता था। मैं उनसे दूर रहने की कोशिश करता था। मेरी माता जी मुझसे बराबर उनके पास जाने को कहती थी। एक दिन अचानक मैं बाहर निकला तो मैंने देखा कि वे बाहर कुर्सी पर बैठे हैं। मैंने बहुत कोशिश की कि मैं चुपचाप निकल जाऊँ और वे हमको न देख सकें। लेकिन उन्होंने मुझे देख ही लिया और उठ कर मेरे पास आकर मुझे प्यार करके अपने कमरे में ले जाने लगे। मेरी समझ में नहीं आ रहा था कि मैं क्या करूँ, चुपचाप उनके साथ चला गया। उन्होंने मुझे अपने पास बैठा कर कुछ बातें की और रात में पुनः पास आने के लिए कह कर मुझे जाने दिया। वहाँ से निकल कर मैं अपनी माँ के पास आया और गुरु जी की बातें बतायी। उनके पास

दोबारा जाने के लिए सोचता रहा की मैं रात में उनके पास कैसे जाऊँगा। शाम होने के बाद मैं अपने पिताजी (श्रीमान् चच्चा जी) के साथ में उनके पास गया। वहाँ बहुत लोग बैठे थे और सत्संग चल रहा था। कुछ देर मैं भी चुपचाप बैठा रहा फिर उठ कर चला आया। यह क्रम चार-पांच दिन तक चलता रहा। फिर एक दिन वे भौगाँव वापस चले गये। उनके जाने के बाद से मेरा डर व संकोच कुछ कम हो गया। कुछ समय बाद वे फिर आये, मैं संकोच से उनके पास जाता था और थोड़ी देर उनके पास बैठ कर वापस चला आता था। धीरे-धीरे लगभग एक वर्ष में मेरा भय और संकोच चला गया। फिर आप कभी भी आते तो मैं उनके पास बैठ कर उनकी बातों को ध्यान से सुनता। एक दिन मैंने उनको खाना खिलाया तो बोले बेटा रात में सोते समय मेरे पास आ जाना। मैंने उनकी आज्ञा का पालन किया और उनके पास सोने से पहले पहुंच गया। कुछ बातें करने बाद मुझसे पैर दबाने के लिए कहा। मैं उनके पैर दबाने लग गया। पैर दबाते समय उन्होंने मेरे सिर पर हाथ रखा। उसके बाद क्या हुआ मुझे कुछ पता ही नहीं चला। मैंने अपने आपको सुबह उनके पास सोता हुआ पाया। मैं उठ कर अन्दर आया और माँ को यह सब बताया। उस दिन से मेरा ज़नाब मौलवी साहब के पास बैठना नित्य हो गया। उसके बाद सन् 1920 में मेरे पिता जी (श्रीमान् चच्चा जी) ने हमें अपने गुरु ज़नाब क़िबला मौलवी साहब से बैत (दीक्षा) करवाया। यहाँ से मेरी जिन्दगी का सफर एकदम से बदल गया। मैं अपना पूरा ध्यान पूजा एवं गुरु महाराज में लगाये रहता था। कुछ समय बाद नौकरी के कारण हम लोग कानपुर आ गये। यहीं पर भी मेरा यही क्रम चलता रहा। अकसर पिता जी के साथ भौगाँव हम लोग जाया करते। सन् 1926 में गुरु महाराज ने मुझे इजाजत दी। उसके बाद से मेरा अध्यात्मिक जीवन शुरू हो गया।"

सन् 1920 में दीक्षा मिलने के बाद आपने सत्संग में नित्य बैठना, नियमित कठोर मेहनत एवं अध्यात्मिक शिक्षा को बढ़ाने के लिए हर सम्भव मेहनत की। उनका रोज का एक नियम बन गया था। प्रतिदिन प्रातः 2:30 या 3:00 बजे से उठ कर पूजा करते थे। उसके बाद बाबा के साथ नियमित सत्संग में बैठते थे। इसके

अलावा जब भी मौका मिला तो गुरु महाराज के पास जा कर उनकी सेवा में लग जाते थे। उन्होंने जीवन में हर चीज छोड़ दी। वे केवल गुरु ओर पिता जी की सेवा में लीन रहते। उनका सम्बन्ध सबसे था लेकिन किसी में लिप्त नहीं होते थे। अपने गुरु एवं पिता जी में पूर्ण समर्पित थे। गुरु के प्रति पूर्ण विश्वास तथा भगवान के प्रति पूर्ण निष्ठा यह उनका जीवन था। परिवार के सभी काम करते हुए वे अपने अध्यात्मिक मार्ग पर बढ़ते रहे। अचानक अपने पिता श्रीमान् चच्चा जी के निधन से उन्हें बहुत झटका लगा। उनके अपने शब्दों में, "चच्चा जी का निधन जिस दिन हुआ उस दिन मैं सुबह चच्चा जी के पैर छूने गया तो उन्होंने अपने सिलसिले के सम्बन्ध में बहुत सी बातें और छिपे हुए राज बताये। मैं समझ नहीं पा रहा था कि वे जो बातें कर रहे हैं उनका अभिप्राय क्या है, मुझको कुछ संदेह तो हुआ पर समझ में नहीं आया और कचहरी चला गया। उसके बाद दोपहर में उनका निधन हो गया। यही धक्का मुझको लगा कि सुबह ऐसे बातें कर रहे थे और दोपहर में उनका निधन हो गया। इस अफसोस से मैं बहुत मुश्किल से निकल पाया।"

जब तक आप नौकरी में जाते रहे सत्संग सुबह-शाम चलता रहा। नौकरी से सेवानिवृत्त होने के बाद दिन भर सत्संग चलने लगा। जिस दिन आपका निधन हुआ उस दिन भी सत्संग चल रहा था और बहुत लोग बैठे हुए थे।

यहाँ पर मैंने अपने परम पूज्य बाबा श्रीमान् लाला जी साहब, श्रीमान् चच्चा जी साहब एवं पूज्य पिता श्रीमान् राधा मोहन लाल जी की जीवनी एव कुछ अध्यात्मिक जीवन लिखा है। लेकिन जीवनी के साथ-साथ और भी बहुत सी बातें आवश्यक होती हैं। जिनकी जानकारी हम अपनी पुस्तक के दूसरे भाग में कराएंगे।

मेरे पिता जी श्रीमान् राधामोहन लाल जी से भी बहुत से लोगों ने आध्यात्मिक शिक्षा ग्रहण की। उनके कुछ प्रमुख शिष्यों के नाम निम्नलिखित हैं:-

1. श्री जलील अहमद ख़ाँ (भौगाँव)
2. श्री मंजूर अहमद ख़ाँ (भोपाल)
3. मिस लिलियन सिलबर्न (फ्रांस)
4. एस॰ बोगराफ (फ्रांस)
5. इरीना ट्वीडी (इग्लेण्ड)
6. श्री चक्रवर्ती साहब
7. डा॰ चन्द्रगुप्त (जयपुर)
8. श्री रामस्वरूप जी (वर्तमान में अमेरिका निवासी)
9. श्री कन्हैयालाल माथुर (दिल्ली)
10. श्री रघुराज किशोर श्रीवास्तव (लखनऊ)

जो भी लोग लाला जी साहब (महात्मा रामचन्द्र जी महाराज फतेहगढ़), चच्चा जी साहब (महात्मा रघुबरदयाल जी, कानपुर) व उनके सुपुत्रों के सत्संग में लम्बे समय तक लगन व निष्ठा पूर्वक अपने गुरुजनों से सम्पर्क बनाये रखे, वे अंत में अध्यात्म विद्या में प्रायः पूर्ण होकर ही निकले।

दसम अध्याय

चच्चा जी महाराज द्वारा अध्यात्म मार्ग की व्याख्या सन्त का जीवन स्वयं में एक उपदेश होता है। चच्चा जी महाराज की जीवन शैली, उनकी दिनचर्या, उनका व्यवहार, गुरु के प्रति उनकी आस्था, उनका ईश्वर की इच्छा के प्रति पूर्ण समर्पण, तवक्कुल व राज़ी व रज़ा के वसूलों पर पूरी तरह से अमल करना, प्राणी मात्र के लिये करुणा व सेवा भाव का होना, इल्लत, किल्लत व जिल्लत को ईश्वर की तरफ से आया हुआ समझ कर धैर्यपूर्वक सहन करना व बगैर किसी गिला शिकवा के हर क्षण परमात्मा का शुक्रगुजार होना आदि ही उनके प्रवचनों एवं उपदेशों का सार है। उनके प्रवचन बहुत ही संक्षिप्त होते थे तथा मानव जीवन से जुड़े होते थे। उनका विश्वास था कि रुहानियत बोलने, सुनने व पुस्तकें पढ़ने से नहीं पायी जा सकती है। आत्मा, परमात्मा आदि पर लम्बे, चौड़े व्याख्यान देकर वे साधकों को भ्रम में नहीं डालना चाहते थे। उनके प्रवचनों में पांडित्य प्रदर्शन देखने को नहीं मिलता है। उन्होंने अपनी बात अर्थात् अपने गुरु का संदेश इस ढंग से रक्खा कि साधकों को अपनी वृत्तियों को अन्तर्मुखी करने में सहायता मिले।

चच्चा जी महाराज ने रुहानियत (अध्यात्म विद्या) का सार तत्व अपने साधकों को एक प्रवचन में इस प्रकार समझाया कि यदि कोई उस पर निष्ठा पूर्वक अमल करें तो अति शीघ्र वह जीवन मुक्त अवस्था को प्राप्त कर सकता है। प्रातः काल उठने पर साधक को ईश्वर से निम्नलिखित तीन प्रार्थनाएँ अवश्य करनी चाहिए।

1. हे ईश्वर मुझ पर ऐसी कृपा कर कि मेरा मन सदैव गुरु चरणों में लगा रहे।
2. हे परमात्मा तेरी इच्छा पूरी हो।
3. हे ईश्वर मुझे ऐसी शक्ति व सहनशीलता दें कि मैं तेरे रास्ते पर चल सकूँ।

इन तीनों प्रार्थनाओं का अपना अलग महत्व है। इनके अन्दर अनेक रहस्य की बातें छिपी हैं।

चच्चा जी साहब ने पहली प्रार्थना में फरमाया कि साधक का मन सदैव गुरु चरणों में अर्थात् गुरु चिन्तन में लगा रहना चाहिए। हर प्रकार की साधना में गुरु का स्थान प्रथम है। हमारी साधना शैली गुरु प्रेम पर आधारित है। यह प्रेम का साधन है। सबसे पहले हमें गुरु से अटूट प्रेम के बन्धन में बंधना होगा। जितना अधिक हमें गुरु प्रेम की प्यास होगी उतना ही हमारा मन गुरु चिन्तन में लगेगा। गुरु प्रेम की अग्नि में ही हमारी सांसारिक इच्छाएँ व विकार दूर होंगे। एक सच्चे प्रेमी को केवल अपने प्रेमास्पद का ही हर समय दीदार चाहिये, उसे संसार की धन दौलत, राज सिंहासन व वैभव से कोई मतलब नहीं होता। केवल एक का ही बन कर रहना पड़ता है। अनेक से एक पर आना ही साधना का लक्ष्य है और वह एक केवल सदगुरु ही हो सकता है। मीरा बाई ने कहा है - "मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई"। लगातार गुरु चिन्तन करने से गुरु में फना होने में आसानी होती है। उन्होने एक बार कहा था कि पार होने का एक ही तरीका है 'या तो किसी के हो जाओ या किसी को अपने हृदय में बसा लो। मेरे बड़े बाबा लाला जी साहब (महात्मा रामचन्द्र जी) एक ऐसे संत थे जिन्होंने फ़ना फिल शेख और फ़ना फिल मुरीद का भी दर्जा हासिल किया था अर्थात वे अपने गुरु महाराज में तो लय थे ही साथ ही साथ उनके गुरु महाराज भी उनमें लय थे।

मैं क्या बताऊँ उल्फत में मैंने क्या देखा।
मतलूब को तालिब में समाया पाया ॥

गुरु चिन्तन के विषय में सहजोबाई के वचन अनुकरणीय है:-

जाग्रत में सुमिरन करे, सोवत में लौ लाय।
सहजो इक रस ही रहे, तार टूट न जाय।

आठ पहर सुमिरन करे, बिसरै न क्षण एक ।
अष्टादस और चार में, सहजो यही विशेष ॥

गुरु की याद सदैव करनी चाहिये । एक क्षण मात्र को भी उनकी याद ना भूलें । हर समय यह ख्याल बना रहे कि गुरु हमारे हृदय में मौजूद हैं । गुरु की याद सच्चे मन से करनी चाहिये न कि दिखावे या प्रदर्शन के लिये ।

राम नाम यों लीजिये, जाने सुमिरन हार ।
सहजो के करतार ही, जाने न संसार ॥

चच्चा जी ने दूसरी प्रार्थना 'हे प्रभु तेरी इच्छा पूरी हो' को महा मंत्र कहा है । यह सूफी संतों का राजी व रजा का साधन है । राजी है हम उसी में जिसमें तेरी रजा है । यदि साधक अपने अन्दर से कर्तापन के भाव को मिटाना चाहता है तो उसे परमात्मा की मर्जी पर ही चलना होगा । हमें अपना अहँ व अपना वजूद ही मिटाना होगा । जब तक हमारे अंदर अहँ की भावना रहेगी, तब तक कर्तापन का भाव भी बना रहेगा और हम कभी अद्वैत अवस्था को नहीं पहुंच पायेंगे । ईश्वर की इच्छा पर जीने का मतलब है कि चाहे जितनी मुसीबतें या कष्ट हों हम कोई गिला शिकवा नहीं करेंगे और हर क्षण परमात्मा को शुक्रिया अदा करेंगे । इसी के साथ जुड़ा हुआ है 'तवक्कुल' जिसका अर्थ है केवल एक पर ही भरोसा करना । गुरु अर्थात ईश्वर के अलावा किसी और से आशा न करना । तुलसीदास जी ने राम के मुख से इसकी व्याख्या इस प्रकार की है -

मो सन प्रीति मनुज तन आसा ।
कहो तो तात कहाँ विश्वासा ॥

यदि साधक राजी, रजा, व तवक्कुल के भाव को अपने जीवन में ढ़ाल ले तो उसके अन्दर साम्यावस्था आने में देर नहीं लगेगी । सुख-दुख, हानि-लाभ,

मान-अपमान में भी वह हमेशा एक जैसी स्थित में रहेगा व हमेशा ईश्वर को धन्यवाद देता हुआ प्रसन्न रहेगा। राग, द्वेष से वह दूर रहेगा। विपत्तियों में भी साहस एवं सहनशीलता उस का साथ नहीं छोड़ते। उसे किसी से गिला-शिकवा नहीं होता। हर चीज वह ईश्वर की ओर से आई हुई समझकर उसे सहर्ष स्वीकार करता है। परन्तु ऐसी स्थिति बिरलों के ही भाग्य में नसीब हो तो है। चच्चा जी महाराज का सारा जीवन ही राजी, रजा व तवक्कुल की एक आदर्श मिसाल है।

उनकी तीसरी प्रार्थना 'हे ईश्वर मुझे ऐसी शक्ति व सहनशीलता दें कि मैं तेरे रास्ते पर चल सकूँ' साधकों के लिये बहुत महत्वपूर्ण है। ईश्वर प्राप्ति अर्थात अपने निज स्वरूप के दर्शन के मुख्य रूप से तीन मार्ग हैं जिन्हें कर्मयोग, भक्तियोग व ज्ञान योग कहा गया है। परन्तु यह कोई भी मार्ग आसान नहीं है। हर मार्ग पर चलना तलवार की दुधारी धार पर चलने के समान है। रुहानियत का सफर प्रारम्भ होते ही मुसीबतें कदम-कदम पर आने लगती हैं। यदि साधक में शक्ति, धैर्य व सहनशीलता नहीं है तो वह या तो मार्ग में भटक जायेगा या साधना छोड़कर फिर संसार में वापस चला जायेगा। बगैर ईश्वर की दया व कृपा के उसमें यह गुण नहीं आ पाते हैं। ईश्वर के रास्ते पर चलने पर पहली कठिनाई समर्थ गुरु के खोज की है। दर-दर भटकने पर भी जब ऐसा गुरु नहीं मिल पाता है, तो व्यक्ति निराश होकर रास्ते से हट जाता है। ऐसे में धैर्य व सहन शक्ति ही काम आती है। गुरु मिलन की तीव्र इच्छा व प्यास ही उसे एक दिन समर्थ गुरु के सामने खड़ा कर देती है। गुरु मिलन के बाद भी हमारी मुश्किलें हल नहीं हुई। गुरु से प्रेम का सम्बन्ध बनाना और भी कठिन है। इस मार्ग में हमारा अहँ सबसे बड़ा बाधक है। ईश्वर के रास्ते पर चलने वाले को बड़ी कठिन परीक्षाओं से गुजरना पड़ता है। भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है कि मैं अपने भक्तों को सुखी नहीं रहने देता। जैसे-जैसे साधक ऊँचा बढ़ता जाता है उसकी मुसीबतें भी बढ़ती जाती है। शारीरिक कष्ट, आर्थिक मुसीबतें, अपमान आदि से साधक को गुजारा जाता है, अगर फकीरी का मार्ग चुना है तो दुनियादारी से क्या वास्ता रखना। ऊँची स्थिति पर पहुंच चुके साधकों को चमत्कार रूपी ख़तरों से भी सावधान

रहना है नहीं तो वे बाजीगरी, हिप्नोटिज्म ही दिखाते रह जायेंगे और रुहानियत से कोसों दूर हो जायेंगे। अंतिम अवस्था में कर्तापन का भाव व अहँ साधक को पूर्ण रूप से शरणागत नहीं होने देता। इस रास्ते पर लाखों चलते हैं परन्तु मंजिल पर केवल एक दो साधक ही पहुंच पाते हैं। चच्चा जी का जीवन शारीरिक व आर्थिक कष्टों में बीता। लाला जी साहब ने उन्हें अपने गुरु भाई मुन्शी चिम्मनलाल मुख्तार साहब के पास अध्यात्मिक शिक्षा के लिये भेजा था। मुख्तार साहब ने उन्हें बड़ी कठिन परीक्षाओं से गुजारा परन्तु चच्चा जी ने प्रसन्न रह कर ईश्वर को शुक्रिया अदा किया।

यदि धैर्य व सहनशीलता नहीं है तो साधक को पूजा का भी अहँकार हो जाता है। एक बार चच्चाजी महाराज ने सोचा कि हम अपने गुरु महाराज को अपना ध्यान दिखावें। वे ध्यान पर बैठे और 24 घंटे तक उठे ही नहीं। गुरु महाराज इस पर बहुत नाराज हुए और उन पर कई घड़े पानी डलवाया व उनके कपड़े जला दिये गये। पहनने के लिये नये वस्त्र दिये। कभी-कभी साधक अपने को गुरु से भी बड़ा समझने लगता है। इस रास्ते पर कदम-कदम पर साधक के सामने सांसारिक प्रलोभन व माया अपना जाल फैलाये रहती है जिन में फँस कर साधक भटक जाता है। जिन पर ईश्वर गुरु पदवी का भार सौंपते हैं उन्हें तो और भी तपाया जाता है ताकि वे बिल्कुल खरे होकर निकलें।

इसीलिये चच्चाजी महाराज ने फरमाया कि यदि इस मार्ग पर आगे बढ़ना है तो हर दिन उठ कर प्रातः काल ईश्वर के सामने यह तीन प्रार्थनाएँ अवश्य करें और अपने गुनाहों के लिए ईश्वर से माफी माँगे। प्रयत्न तो साधक को स्वयं ही करना है। जब निज कृपा होगी तभी ईश कृपा होगी, गुरु कृपा तो सबसे बाद में होगी। यों गुरु की नजर में तो शिष्य प्रथम दिन से ही रहता है। आगे गुरु से फैज-ए-आब पाना तो शिष्य के गुरु प्रेम की गहराई पर ही निर्भर है।

चच्चाजी महाराज ने अपने एक उपदेश में साधकों को दो बातें अवश्य याद रखने को कहा । (1) मृत्यु (2) ईश्वर । मृत्यु याद आने पर इस संसार की क्षण भंगुरता का ध्यान हो आता है । जिन चीजों से हमारा लगाव है व जिन समृद्धि के स्त्रोतों पर हमें गर्व है वे सब एक दिन नष्ट होने को हैं । इस संसार में कुछ भी स्थायी नहीं है । ईश्वर और उसके गुणों की सदैव याद बनी रहने से हमारा हृदय पवित्र बनता है व हम बुराइयों से दूर रहते हैं । हमारे मन में यह विचार भी आने लगता है कि हम जिस भंडार से आये हैं एक दिन फिर उसी भंडार में वापस होना है । इस संसार के प्रलोभनों के बीच रहते हुये हमें अपना लक्ष्य कभी नहीं भूलना चाहिये । वह है आत्म-साक्षात्कार अर्थात शाश्वत सत्य का ज्ञान होना । मार्ग के बीच में हमें इससे कम में संतोष नहीं कर लेना चाहिये ।

निर्लिप्त भाव से जीवन बिताना ही उनकी विचारधारा का केन्द्र बिन्दु है । आत्म साक्षात्कार के लिये भौतिक पदार्थों का त्यागना आवश्यक नहीं है । जंगलों में जा कर एकान्त में तपस्या करने से मार्ग कोई आसान नहीं हो जावेगा । संसार में ही रहो । अपने कर्तव्यों व उत्तरदायित्वों को ईश्वर की ओर से आया हुआ आदेश समझ कर पूरा करो ।

वे सूफी सिद्धान्त 'इबादत बजुज़ खिदमते ख़ल्क नेस्त' पर पूरी तरह से अमल करते थे । ईश्वर की सच्ची सेवा मानव जाति की सेवा है । सूफी सन्तों ने सेवा भाव व ईमानदारी व नेक कमाई के जीवन पर बहुत जोर दिया है । चच्चा जी महाराज का विश्वास था कि वास्तविक सेवा भाव केवल हृदय की पवित्रता से ही आ सकता है । बगैर पवित्र हृदय के सेवा केवल स्वार्थ व दिखावटीपन पर आधारित है ।

लाला जी साहब (महात्मा रामचन्द्र जी) को अपनी जन्मभूमि जिला फरुर्खाबाद पर गर्व था । यह स्थान उनके गुरु एवं दादा गुरु की तपोभूमि थी । प्राचीन काल में यहाँ कपिल मुनि, विश्वामित्र, उद्दालक ऋषि एवं श्रृंगी ऋषि के आश्रम थे । भगवान बुद्ध से भी यह स्थान जुड़ा रहा संतों एवं ऋषियों की तपोभूमि में उनका

जन्म हुआ था। उनकी माताजी भी ईश्वर भक्त थी। रामचरित मानस का पाठ करते समय वे अपने दोनों पुत्रों (लालाजी साहब व चच्चाजी महाराज) को सामने बिठाल कर बड़े भाव विभोर होकर साधना में मग्न रहती। इस प्रकार बचपन में ही दोनों के हृदय में अध्यात्मिक संस्कारों की छाप पड़ी एवं भक्ति भाव के बीज उनके हृदय में डाल दिये गये। उनके पिता जी भी प्रातः काल टहलने के समय उन्हें साथ ले जाते थे और रास्ते में उन्हें कहानियाँ सुनाया करते लाला जी साहब ने अपनी आत्मकथा में पिता जी द्वारा सुनाई गयी एक ऐसी कहानी का जिक्र किया है जिसने उनके जीवन पर अमिट छाप छोड़ी है। कहानी इस प्रकार है:-

एक बार देवर्षि नारद द्वारिकापुरी पहुँचे और भगवान श्री कृष्ण से विनती कर यह जानना चाहा कि प्रकृति या माया क्या है? श्रीकृष्ण ने कहा कि प्रकृति या माया को शब्दों से नहीं बताया जा सकता है। उसे तो केवल अनुभव से ही जाना जा सकता है। तुम मेरे साथ चलो। दोनों चलते-चलते एक रेगिस्तान में पहुँचे। अचानक कृष्ण रुक गये और नारद से कहा कि अब आगे मुझसे चलते नहीं बन रहा है। मेरा कंठ सूख रहा है। जा कर कहीं से जल ले आओ। नारद फौरन जल लेने के लिये निकल पड़े। माया के रसूल रूप में दूर पर उन्हें एक बस्ती दिखाई पड़ी। वहाँ पहुंचने पर नारद को एक युवती कुएँ पर पानी भरती दिखलायी पड़ी। नारद उसके रूप लावण्य में पूरी तरह खो गये। उसने विनम्रता से नारद को जल पिलाया। परन्तु नारद इस प्रकार उसके रूप पर मोहित हो चुके थे कि उसका पीछा करते हुए उसके घर तक जा पहुँचे। वही लड़की के पिता से कहा कि मैं तुम्हारी पुत्री से विवाह करना चाहता हूँ। उपयुक्त वर देखकर वे तैयार हो गये। एक शर्त रखी कि विवाह के बाद तुम्हें इसी गाँव में व इसी घर में रहना पड़ेगा। नारद द्वारा इस शर्त को स्वीकार कर लेने पर दोनों विवाह के बन्धन में बंध गये। लड़की के पिता की मृत्यु के बाद नारद को उसका सारा कारोबार सम्हालना पड़ा। उनके चार सन्तानें हुई। इस प्रकार वे अपने इस छोटे से संसार में मग्न होकर जीवन बिताने लगे। अचानक विपत्ति का पहाड़ टूट पड़ा। एक दिन भयानक आंधी तूफान के बाद गांव में बाढ़ आ

गयी। नारद ने पत्नी व बच्चों को एक नाव में बिठाकर आगे बढ़ने का निश्चय किया। परन्तु दुर्भाग्य वश नाव पलट गई। उनकी पत्नी व बच्चे सब डूब गये। वे किसी को भी न बचा पाये। एक तेज लहर ने उन्हें किनारे जा पटका। उनका बुरा हाल था। वे चिल्ला रहे थे कि अब मेरा जीवन पत्नी व बच्चों के बगैर व्यर्थ है। मैं अकेला जीकर क्या करूँगा। इतने में उन्हें सुनाई पड़ा, "नारद मैं प्यासा हूँ। जल लाये।" सामने श्रीकृष्ण खड़े थे। नारद ने बिलखते हुए उनसे याचना की कि मेरी पत्नी व बच्चों को जीवित कर दें। तब भगवान श्रीकृष्ण ने उन्हें सावधान किया, "नारद किस भ्रम में पड़े हो। न कोई पत्नी न कोई बच्चे। वह सब माया थी।" नारद को चेतना हुई। नतमस्तक होकर उन्होने कहा, "आज आपने दया कर मुझे पुरुष और प्रकृति दोनों के दर्शन करा दिये।" गीता में कहा गया है कि जो मनुष्य पुरुष को और गुणों के सहित प्रकृति को तत्त्व से जानता है वह पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं होता है।

लालाजी साहब अपने प्रवचनों में प्रायः इस कहानी का विश्लेषण करते थे कि नारद की भांति हम स्वयं ही अपने दुखों के निर्माता हैं। भोगों की इच्छा रखना व यह सोचना कि इच्छाओं की पूर्ति से सुख मिलेगा यही हमारे दुखों का मूल कारण है। भगवान की शरण में जाने से ही दुखों का नाश सम्भव है।

चच्चा जी महाराज बड़े विनोदप्रिय व्यक्ति थे। उनके सत्संग में लोग किस्से कहानियाँ सुनाया करते थे कोई उपन्यास पढ़ कर सुनाता था तो कोई अख़बारों में छपे कार्टून समझाता था वे लम्बे चौड़े प्रवचन नहीं करते थे। हँसी-हँसी में ही वे सच्चे साधक को अपनी तवज्जोह से मालामाल कर देते थे। उन्हें एक कहानी बहुत पसंद थी। उसमें छिपे हुए अध्यात्म रहस्य का आनन्द पाठक भी लें।

एक कंजूस बनिया के यही एक दिन एक नौजवान साधु ने भिक्षा के लिये आवाज लगाई। बनिया की बहू बाहर आई। उसने साधु से पूछा, "इतनी जल्दी क्यों निकल पड़े।"

साधु ने उत्तर दिया, “मौत के डर से” । बहू ने कहा - अच्छा आप ठहरिये, मैं भिक्षा लाती हूँ। भिक्षा में वह सड़ा हुआ अनाज ले आई। कहा कि मेरे यहाँ तो बासी ही खाया जाता है। इस पर साधु ने पूछा, “तेरी उम्र क्या है?” बहू ने उतार दिया, “सोलह साल।” साधु ने पूछा, ”तेरे पति की उम्र क्या है?” बहू ने कहा, “चार वर्ष।” साधु ने पूछा, “तेरी सास की उस क्या है?” बहू बोली, “दो वर्ष।” “और श्वसुर की उम्र क्या है?” बहू ने जवाब दिया, “वे अभी पैदा ही नहीं हुए हैं।“

साधु के जाने के बाद बनिया बहू के ऊपर बहुत क्रोधित हुआ और अपनी स्त्री से कहा कि यह बहू घर में रखने योग्य नहीं है। यह साधु से हंसी मजाक कर रही थी। सब की उम्र गलत बता रही थी और मेरे लिये यह कह रही थी कि वे अभी पैदा ही नहीं हुये। इससे बढ़कर और दिल्लगी क्या हो सकती है।

बहू ने उत्तर दिया – “पिता जी आप ठीक से मेरी बात समझ नहीं पाये। मैंने साधु से पूछा था कि आप नौजवानी में ही साधु क्यों हो गये। उन्होंने कहा - मौत के डर से, न जाने कब आ जाये। मैंने बासी खाने की बात कही जिसका अर्थ है कि यह पिछला ही दिया हुआ खा रहे हैं। आगे के लिये कुछ भी दान पुण्य नहीं करते। सोलह साल पहले मेरे पिता ने मुझे राम नाम बता दिया था, तभी से मैं राम नाम का जाप करती हूँ। अतः मेरी उम्र 16 साल की हुई। मेरे पति विवाह होने के बाद मेरे संसर्ग में आने से राम नाम का जप पिछले चार साल से कर रहे हैं। अतः उनकी उम्र चार साल की मैंने बतलाई। अब दो साल से माता जी का भी ध्यान राम नाम की ओर है इसलिये उनकी उम्र दो साल बतायी गयी। आपको तो अभी राम नाम की खबर भी नहीं है इसलिये मैंने कहा कि आपका तो अभी जन्म ही नहीं हुआ। जन्म तभी से माना जाता है जब से राम नाम आता है। व्यर्थ है वह जीवन का समय जो राम नाम के बिना बीत गया।”

चच्चा जी महाराज द्वारा दिये गये कुछ प्रमुख उपदेश:-

1. “दुनिया करो, मुझको चाहो” - गृहस्थी के सभी कार्य विधिवत् करो, उन्हें बेगार समझ कर मत भुगतो - वरना यह समझो कि ऐसी ही प्रभु की आज्ञा है, सब कुछ करते हुए लगन प्रभु की ओर रहे।

2. असली फर्ज वही अदा कर सकता है जिसको उसके अदा करने में न हर्ष है न शोक। हर्ष और शोक के आते ही फर्ज पर पत्थर मार दिया जाता है। वह ईश्वर की खिदमत नहीं हुई। जब सब लगाव त्याग के निर्मल चित्त, बिना कुछ ख्याल आये हुये, काम बन जाता है तभी वह सच्ची फर्ज अदायगी कहलाती है।

3. सच्चा गुरु अपने को साधक का सेवक समझता है। उसके मन में गुरु चेले का भाव नहीं आता है और अगर आवे तो उसी क्षण उसका पतन होने लगता है।

4. दान देते समय यदि दाहिना हाथ दे तो बायें को खबर न हो। यदि कोई कुछ गुरु, गुरु माता, माता, पिता को दे तो यह न समझे कि मैंने कुछ दिया है, वरन यह समझे कि यह उनका पहिले से ही था।

5. साधक का धर्म है कि अपने गुरुदेव की आत्मा की शान्ति के लिये प्रार्थना करे – ‘हे प्रभु, इनका नाम रोशन हो, इनकी आत्मा आप में परम विश्राम पावें।’ ऐसी ही अपने माता-पिता के लिये प्रार्थना करें।

6. हर लुक़मे (कौर) के साथ याद खुदा हो, उसी के ध्यान में खाओ और गिने हुए लुक़मे हो। खाना दाखिल इबादत है।

7. अपने गुरु महाराज के बारे में उन्होंने बतलाया, “वे तो कहते थे कि तर्ज़ रुहानियत एक है, तर्ज़ माशरत जुदागाना।” ईश्वर की प्राप्ति का मार्ग एक है, रहन सहन सब का एक नहीं। इसलिये जब कोई अपना धर्म बदलने की बात

करता उन्हें बहुत बुरा लगता। आप हिन्दू भाइयों से कहते – "मेरे पास आत्मज्ञान सीखने आये हो, अवश्य सीखो, परन्तु मेरी रहनी-सहनी की नकल हरगिज न करो। बाहरी जीवन तुम्हारे कुल, जाति के अनुसार हो। आत्मिक क्षेत्र में हमारा तुम्हारा सम्बन्ध है।" वे अपने हिन्दू भाइयों को अपने हाथ से छू कर कोई चीज नहीं देते थे यहाँ तक कि सूखी मिर्च भी नहीं। वे कहते – "लोक मर्यादा कायम रक्खो।"

8. भगवत्मार्ग यही है कि हम प्राणी मात्र की सेवा में लगे रहें।

तरीक़त बजुज खिदमते ख़ल्क नेस्त।
इबादत बजुज़ खिदमते ख़ल्क नेस्त॥

ईश्वर को अगर कोई बात भाती है तो वह मख़लूक़ की खिदमत।

भक्ति तो तब आती है जब शुक्र (धन्यवाद) की ध्वनि हृदय में गूँजती रहे, सुख दुख में धैर्य बना रहे। जब तक हृदय शुद्ध न होगा - ईश्वर की सच्ची मुहब्बत दिल में भरी न होगी, खिदमत करना आ ही नहीं सकता।

9. सारे मख़लूक़ (बन्दों) को अपने आप में देखना और आपके सारे मख़लूक़ में, यही इस विद्या की परिपूर्णता है।

10. ईश्वर को ईश्वर से ईश्वर के लिये पाओ। ईश्वर साक्षात् गुरुदेव जी के रूप में सगुण रूप से विराजमान है। उन्हीं की कृपा से उसका रहस्य खुलता है और प्राप्त होता है। तभी प्रेम से हृदय भर उठता है। सारे विकार दूर हो जाते हैं।

11. श्री गुरुदेव के द्वारा ईश्वर की प्राप्ति होती है, इसलिये उनसे प्रेम करें, ईश्वर से प्रेम हो जायेगा। गुरु में निरन्तर लीन होने से ईश्वर में आप ही आप साधक लीन हो जायेगा।

12. जब तक गुरुदेव की आज्ञा न हो अपने को जाहिर न करें।

13. जन्म तीन होते हैं - (1) एक तो वह जिसे सब कोई मानते हैं, (2) दूसरा वह जबकि मुमुक्ष गुरुदेव की शरण में आता है, (3) तीसरे वह दिन, जिस दिन महा निर्वाण प्राप्त होता है। फकीरों का यही जन्मदिवस मनाया जाता है। उस दिन वह संसार से छुटकारा पा कर आनन्द महासिन्धु में समाते हैं। जिसको संसार के लोग जन्म दिवस कहते हैं। वह तो बन्धन का दिन है।

14. ध्यान और समाधि के ऊँचे स्थानों को न चाहता हुआ जो केवल ईश्वर के सम्मुख होता है वही सच्चा भक्त है। यह सब बातें तो समय अनुसार आवेंगी ही, ईश्वर पर भरोसा करना जो सीखता है, वही ठीक है।

15. जो ईश्वर की इच्छा में प्रसन्न रहकर सब काम करता है वही स्वतंत्र होता है। जो अपनी इन्द्रियों का दास है, वह सब का दास है। वह कभी स्वतंत्र नहीं हो सकता।

16. ध्यान के समय यदि विचार आते हैं तो आने दो। उनसे झगड़ा मोल न लो। तुम अपना काम करो। वे अपना काम करें।

17. सत्संग में बाअदब दिल को यकसू (एकाग्र) करके, गुरुदेव जी के सामने बैठना चाहिये। इज्ज़ (दीनता) के साथ हृदय की खिड़कियाँ खोल दें कि उसमें राम नाम समाये।

18. साधक को सदैव यह ख्याल बांधना चाहिये – "हे नाथ तू ही मेरा ध्येय है, तेरी इच्छा पूर्ण हो। तुझे छोड़ मैं और कुछ न चाहूँ।" ऐसा करने से मन निरन्तर लगा रहता है।

19. जब कोई यह समझने लगता है कि हमने तो अब गुरु पा लिया है, निश्चिन्त होकर बैठ रहे और समझे कि मुझे कुछ करना धरना थोड़े ही है, सब पाप पुण्य गुरुदेव के जिम्मे हैं। यह समझना महान भ्रम है।

20. ईश्वर की सच्ची प्रार्थना तब उदय होती है जब मनुष्य सिवाय उसके और किसी को नहीं चाहता न दुनिया, न परलोक। दोनों की अभिलाषा जब हृदय से चली जाती है, तब निर्मल हृदय से प्रार्थना ठीक उठती है। चाह केवल ईश्वर की, किसी और की तलब नहीं रहती।

21. सबसे बड़ी शिकायत यह है कि पाप करे और ईश्वर से क्षमा की प्रार्थना करे। चाहिये तो यह कि प्रार्थना करे, "हे प्रभु मेरे पापों का दण्ड मुझे मुगतवा दें, और फिर संस्कार न बने, मुझसे ऐसा पाप न बने।"

22. गुरु की सेवा बेगरज होकर करे। इच्छा मन में न आवे। नित्य उनके कल्याण की बातें सोचे - (1) हे ईश ! इनका अंतिम समय ठीक हो, ईमान सलामती से जाय (2) हे ईश ! इनका रुझान केवल नेकी की ओर हो। (3) हे ईश ! इनकी सब शारीरिक व मानसिक ज़रूरतों को तू पूरा कर दे।

23. रूहानी तरक्की चार बातों से होती है:- (1) कम खाना (2) कम सोना (3) कम बोलना (4) दुनियादारों से कम मिलना। यह चारों बातें ही सत्संग में प्राप्त होती हैं।

24. ईश्वर के मार्ग पर चलने के काबिल बनने के लिये चार बातें लाजिमी हैं। (1) पैरों को तोड़ डाले (2) आँखों को फोड़ डाले (3) कानों को बहरा कर दें (4) जवान को काट डाले। साधकों को इसका वास्तविक अर्थ समझना चाहिये।

25. तीन काम हैं, उनमें से कोई एक करे भक्ति नसीब होगी:- (1) जालिम को जुल्म से बचाना (2) मजलूम (पीड़ित) की फरियाद सुनना (3) भूखों की शिकमसेरी (पेट भरना) पहले और उनका हक दें फिर आप खाये।

26. तीन वस्तुएँ सार है:- (1) सतगुरु (2) सत्संग (3) सतनाम

27. नित्य सरल भाव बना रहे, चाहे पूजा से मग्नता प्राप्त हो या नहीं। हर्ष व खिन्नता मन में न आवे। समभाव स्थित रहे। यह तभी होता है जब गुरुदेव के ध्यान में चित्त लगा रहता है। आध्यात्मिक उन्नति तभी होती है जब साधक गुरु मय होता है।

28. भक्तजन कुछ नहीं चाहते - चक्रों के खोलने और भीतर के चमत्कारों की ओर दृष्टि नहीं करते, केवल ईश्वर को चाहते हैं। एक पद सुनाया -

भीखा बात अगम्य की, कहन सुनन की नाहिं।
जो जाने सो ना कहे, कहे सो जाने नाहिं ॥

29. जिसका हृदय निर्मल है वह शोरगुल में भी एकाग्र रहता है। जिसके हृदय में अनेक विचार गूँज रहे हैं, वह एकान्त में बैठा हुआ भी बाजार में है।

30. गुरुदेव की सन्तान की वैसी इज्जत करें जैसी कि गुरुदेव की। जो कुछ भी सेवा बन पड़े करें। गुण अवगुण न देखें।

31. गुरुदेव एक पग आगे रखा देते हैं। दूसरा पग शिष्य को खुद रखना चाहिये। जब तक निज कृपा नहीं होती, गुरु कृपा और ईश कृपा नहीं होती। जब निज कृपा होती है तब ईश्वर कृपा उदय होती है और दोनों गुरु में लय हो जाती है। गुरु किसी शख़्सियत का नाम नहीं है। जो हृदय के अंधकार को रोशनी में बदल दें, वही गुरु है।

32. एक दिन आपने फरमाया:-

दो बातन को भूल मत, जो चाहा कल्यान।
नारायण एक मौत को, दूजै श्री भगवान ॥
नारायण दो बात को, दीजै सदा बिसार।
करी बुराई और की, आप कियो उपकार ॥

33. (1) "मैं कौन हूँ? (2) क्यों आया हूँ? (3) कहाँ जाऊँगा?" इनका ख्याल रक्खे तो बड़ी भूल से बचेगा। जो अपनी मृत्यु को नित्य ध्यान में रखता है, उसका मार्ग ठीक हो जाता है।

34. देर लगती है पात्र निर्माण में, विद्या दान में देर नहीं लगती। सत्संग में पात्रता आती है। जिसमें गुरुदेव का प्रेम प्रकट हुआ, बिना आये, दर्शन किये, उसे चैन नहीं। तब गुरुदेव भी उसकी ओर अपना हृदय फेरते हैं।

35. द्वैत में हम, ईश्वर, गुरु तीनों रहते हैं। विशिष्टाद्वैत में ईश्वर और गुरु एक ही रह जाता है। कभी ऐसी अवस्था आती है तीनों का ख्याल दिल से गायब।

36. परमात्मा ही गुरु के रूप में, और अपने आप शिष्यों के रूप में अपने उपदेश करता है। अहँकार रूपी भ्रम का साफ होना ही उस प्रभु का दर्शन कहलाता है।

37. यह न समझो राम अब नहीं, कृष्ण अब नहीं, अपने गुरुदेव के रूप में उन्हीं को देखो। वे अपनी तवज्जोह से शक्ति तुम में पैदा कर देंगे कि राम या कृष्ण को साक्षात् देख लोगे।

38. भक्ति यदि इसलिये करते हो कि शान्ति व सुख मिले और चित्त एकाग्र हो तो अभी ईश्वर को नहीं चाहते।

39. अपने को बाकी न रखना। रंज और खुशी को एक समझना, जग को जुगत से बरतना। ईश्वर की माया का आदर करना जैसा प्रेम बर्ताव गुरुदेव के साथ, वैसा ही मनुष्य मात्र के साथ। सब मुझसे बड़े हैं और मुझसे अधिक जानते हैं, ऐसी हालत हो।

40. मनुष्य केवल आत्मा ही नहीं है, उसके शरीर भी है - सब की ओर उचित ध्यान देना चाहिये। शरीर उस आत्मा का मंदिर है।

41. कुछ लोग यह समझते होंगे कि अब तो ज़नाब गुरुदेव जी नहीं हैं तो क्या करें। यह बड़ी भूल है। गुरुदेव जी पूर्ववत् नित्य बिराजते हैं। हाँ पहले तो कुछ शारीरिक बन्धन में थे और उनकी शक्ति सीमित थी परन्तु अब बन्धन नहीं है। उनकी शक्ति अब असीमित है। अब स्वच्छन्द रूप से हर समय हर जगह हाजिर है। प्रेमी भक्तजनों के हृदय में तो सदैव निवास करते हैं।

42. आपने एक साधन बताया जिससे बन पड़े करे। वह गुरु मय हो जाये, जो पैर उठे गुरु की याद में उठे, जब तक याद न आवे, उसी हालत में खड़ा रहे। चलने में गुरु मय हो जावे, मानो गुरुदेव चल रहे हैं। वे ही हैं, हम नहीं। प्रेम की किरणें फूटने लगेगी।

पाठकों से निवेदन है कि इन उपदेशों को ध्यानपूर्वक पढ़ें व अपने जीवन में उतारने का प्रयत्न करें तभी रुहानियत की अंतिम चोटी तक पहुंच पायेंगे।

एकादश अध्याय

जिसने मेरे महबूब का जलवा देखा ।
उसने ना फिर कभी रुखे दुनिया देखा ॥
खाक आपको करके उसे पाया हमने ।
घर फूँक के यह तमाशा देखा ॥
मैं क्या कहूँ उल्फत में असर क्या देखा ।
मतलूब को तालिब में समाया देखा ॥

साईं हमें ना बिसारियो । चाहे लाख लोग मिल जायें ॥
हमसे तुमको बहुत है । तुमसा हमको नाहिं ॥

1958 में कानपुर में वार्षिक बसंत भंडारा का अवसर था । तारीख़ें 24 व 25 जनवरी थी । मेरे पूज्य पिता जी महात्मा राधा मोहन लाल जी के प्रवचन को सुनने के लिये सत्य के खोजियों का एक विशाल मजमा इकट्ठा था । एक महिला शिष्या अपनी सुरीली आवाज में मेरे पिता जी को प्रिय, ऊपर दिये हुए पदों को गा रही थी । उपस्थित व्यक्ति लगभग समाधि की अवस्था में थे । सभा लगभग तीन घंटे तक चली ।

चूँकि महात्मा राधामोहन लाल जी एक लम्बी बीमारी के बाद स्वास्थ्य लाभ कर रहे थे, इसलिये वे व्यक्तिगत रूप से लोगों की तरफ मुखातिब नहीं हो सके । उर्दू में लिखा गया उनका लिखित प्रवचन उपस्थित जिज्ञासुओं को पढ़कर सुनाया गया । उनके प्रवचन का हिन्दी अनुवाद यहाँ पर प्रस्तुत किया जा रहा है । इस प्रवचन का विशेष महत्व था क्योंकि इसमें सूफी नक्शबंदिया सिलसिले के महत्वपूर्ण तत्वों की विवेचना थी । साथ ही साथ ईश्वर की राह पर चलने वालों के लिये सूफी प्रशिक्षण पद्धति पर भी प्रकाश डाला गया था ।

खण्ड - 1

स्मृति

ॐ

इस सांसारिक जीवन का भरोसा नहीं किया जा सकता है। कोई भी नहीं जानता है कि कब स्वाँस रुक जाय और यह जीवन पंछी शरीर से निकल कर उड़ जाये। इसीलिये सर्वोच्च अध्यात्मिक मार्ग (सिलसिला आलिया) के गुप्त भेदों व गहरे रहस्यों को जिन्हें कि मैंने बुज़ुर्ग संतों व भक्तों से सुना व सीखा था या सीने व सीने मुझे दिये गये थे, आने वाली पीढ़ियों व अध्यात्मिक भाइयों के लिये लिपिबद्ध कर रहा हूँ। यदि ईश्वर ने क्षमता दी है तो हर व्यक्ति को इन पर अमल करना चाहिये परन्तु याद रखना चाहिये कि ऐसी क्षमता देना भी परमात्मा के ही हाथ में है।

अपने जीवन काल में बुजुर्ग संत इस राह पर चलने वालों के लिये सदैव मौखिक व लिखित निर्देश देते आये हैं। परन्तु मुझे बड़े दुख के साथ लिखना पड़ रहा है कि आज तक एक भी व्यक्ति ने इस मार्ग की शिक्षाओं को समझने व अमल करने की कोशिश नहीं की है। प्रत्येक व्यक्ति ने अपने निर्णयों, व्याख्याओं व स्वयं के काल्पनिक तर्कों को लागू करने की कोशिश की है। यही वजह है कि आज तक किसी ने भी पूर्णता (तकमील) नहीं हासिल की है। इस सम्बन्ध में परम संत सतगुरु श्रीमान् महात्मा राम चन्द्र जी महाराज (लाला जी साहब फतेहगढ़) ने लिखित वसीयत छोड़ी है। अपने अंतिम दिनों में अपने शिष्यों व अनुयायियों से निराश ही हुए हैं। परम संत सतगुरु पूज्य पिताजी (चच्चाजी महाराज) भी इस विचार से सहमत थे और अपने भक्तों को यह निर्देश दिया था कि अपने अंतिम क्षणों तक इस मार्ग पर धैर्य व साहस के साथ चलते रहें।

इन दोनों बुजुर्गों (परम पूज्य लाला जी साहब व पिता जी श्रीमान् चच्चा जी साहब) ने एक मुसलमान सूफी सन्त से इस मार्ग की अध्यात्मिक दीक्षा (बैत) प्राप्त की थी। इसके लिये उन्होंने अपनी सारी सम्पत्ति व जीवन बलिदान कर दिया था। यह सूफी सन्त नक्शबंदिया, मुज़द्दिदया, मज़हरिया मार्ग के खलीफा (समर्थ गुरु व उत्तराधिकारी) थे। इनका नाम था ख्वाज़ा खाज़गान मौलाना फज़्ल अहमद खान नक्शबंदिया, मुज़द्दिदया मज़हरिया अफ़ी अल्लाहू अनहू। वह फरुर्खाबाद ज़िले के कायमगंज के पास रायपुर नामक गांव में रहते थे और उनकी समाधि भी वहीं पर स्थित है। उनकी अध्यात्मिक इच्छा शक्ति इतनी दृढ़ थी कि असम्भव दिखने वाले कार्य भी उनके लिये सम्भव हो जाते थे। उन्होंने अध्यात्मिक क्षेत्र में शिक्षा देने के नये तरीके लागू किये। हमारे दोनों पूज्य बुजुर्ग (लालाजी साहब व चच्चा जी साहब) इस सूफी संत की मौजूदगी व सेवा में लगभग 16 वर्ष तक रहे। इस मार्ग की ऊँची आध्यात्मिक स्थितियों को हासिल किया। अन्त में 30 नवम्बर सन् 1907 ई० को यह महान सूफी सन्त इस क्षणिक संसार को छोड़कर शाश्वत संसार में प्रवेश कर गये। जाने से पहले उन्होंने इस मार्ग की ज़िम्मेदारियों के साथ-साथ लाला जी और चच्चा जी साहब को भी अपने अध्यात्मिक भ्राता ख्वाज़ा खाज़गान हजरत मौलाना अब्दुल गनी खान साहब (पूज्य मौलवी साहब) के हाथों में सौंप गये। दोनों बुजुर्गों ने आजीवन मौलवी साहब की आज्ञाओं का पालन किया और परिवार के सभी सदस्यों को उनसे बैत (दीक्षा) कराया। अन्त में पूज्य पिताजी (चच्चा जी साहब) ने अपने पौत्र (रवीन्द्र नाथ) को मौलवी साहब के सामने उपस्थित किया तथा उनसे उसे बैत करने के लिये प्रार्थना की जिसे उन्होंने कृपा करके स्वीकार कर लिया। इस प्रकार इस मार्ग में उनके पौत्र रवीन्द्र नाथ को बैत किया गया।

परम पूज्य मौलवी साहब की सेवा में रहते हुए पूज्य पिता जी (चच्चा जी महाराज) ने इस मार्ग में पूर्णता (तकमील) हासिल की। साथ ही साथ जज़्ब (ईश्वर प्रेम) और सलूक (ईश्वरीय ज्ञान की ऊँची स्थितियों को भी प्राप्त किया। बुजुर्गों और ईश्वर की इच्छा व दया से पूज्य पिता जी (चच्चा जी महाराज) ने अद्वैत के महासागर

में अपने के डुबोया, अध्यात्म के गहरे रहस्यों को खोला और रुहानियत के उच्चतम शिखरों पर पहुँचे। इसके बाद पूज्य पिताजी ने इस मार्ग की शिक्षाएँ मनुष्यों को देना प्रारम्भ किया। उनके इस प्रयत्न के रास्ते में तमाम मुश्किलें और मुसीबतें आयी परन्तु उन्होंने दूसरों को शिक्षा देने के कार्य से कभी मुँह नहीं मोड़ा।

इन दिनों पिता जी का स्वास्थ्य अच्छा नहीं था परन्तु उन्होंने इसकी कभी परवाह नहीं की। हर क्षण वे दूसरों को रुहानियत की तालीम देने में व्यस्त रहते थे। अपने अंतिम दिनों में उन्होंने मुझे सांसारिक व आध्यात्मिक शिक्षाएँ दी और ऊँचे मुक़ामों के अतिरिक्त इस मार्ग से सम्बन्धित अनेक शिक्षायें दी। यह सत्य है कि उस समय मैं कुछ भी समझ नहीं सका। मेरे ज़हन में यह बात बार-बार आती थी कि जल्दी ही वे इस नश्वर संसार को त्याग देंगे। मुझे याद है कि वे प्रायः मुस्करा देते थे तथा मेरे मस्तिष्क व हृदय पर एक परदा सा डाल देते थे। मेरे विचार गायब हो जाते थे जैसे कि वे कभी आये ही न हों। 7 जून 1947 दिन शनिवार को दोपहर में 1:55 मिनट पर महा समाधि ली। अपने समय के एक सुल्तान की तरह वे परमात्मा के असीम प्रेम व दया के सागर में पूरी तरह से डूब गये, अपने व ईश्वर के बीच के पर्दे को हटा कर ईश्वर से तादात्म्य हासिल कर लिया। उस समय उनकी आयु 71 वर्ष व आठ महीने थी।

खण्ड - 2

सर्वोच्च अध्यात्मिक मार्ग (सिलसिला आलिया)

इस बात की ओर गंभीरता पूर्वक ध्यान दीजिये कि प्रत्येक मनुष्य के अध्यात्मिक शरीर में एक अध्यात्मिक हृदय होता है। यदि यह स्वस्थ रहता है तो मनुष्य भी स्वस्थ रहता है। यदि इस हृदय में कुछ गड़बड़ी होती है तो सब कुछ उलट पुलट हो जाता है। यह निःसंदेह सत्य है कि इस हृदय के स्वास्थ्य पर ही मनुष्य का अध्यात्मिक स्वास्थ्य निर्भर है। इस अध्यात्मिक हृदय से दो रास्ते फूटते हैं - एक रास्ता सुन्दर अध्यात्मिक संसार की ओर खुलता है और दूसरा भौतिक संसार की ओर। एक रास्ता हमें सुन्दर शाश्वत संसार (आलम-ए-बाला) की ओर ले जाता है। जिसे हमारे बुजुर्गों ने आन्तरिक हृदय (क़ल्ब) कहा है और दूसरा रास्ता क्षणिक सांसारिक इच्छाओं (आलम-ए-नासूत) की ओर है जिसे बुजुर्गों ने बाह्य हृदय (नफ़्स) की संज्ञा दी है। इस प्रकार एक मार्ग हमें शाश्वत संसार की शक्ति से जोड़ता है जिसे बुजुर्गों ने 'आन्तरिक हृदय में लय हो जाना' (फ़ना-ए-क़ल्बी) कहा है। दूसरा रास्ता क्षणिक सांसारिक इच्छाओं के भोग से उत्पन्न शक्ति से जोड़ता है जिसे नफ़्स कहा जाता है। इसलिये इनके अन्तर को अच्छी तरह समझ लेना चाहिये।

आन्तरिक हृदय (क़ल्ब) शाश्वत संसार से सम्बन्धित है।

वाह्य हृदय (नफ़्स) क्षणिक सांसारिक इच्छाओं से सम्बन्धित है। ईश्वर (परम चैतन्य सत्ता) को जानने व समझने की गहरी और सच्ची इच्छा, उसका ज्ञान, उसका प्रकाश, उसकी ऊर्जा, ईश्वर की इच्छा पर चलना, परमात्मा व उसके भक्तों का चिन्तन ही आन्तरिक हृदय (क़ल्ब) की शक्ति के स्त्रोत हैं। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि जब ईश्वर के प्रति प्रेम अपनी पराकाष्ठा पर पहुंच जाता है तब पिता, माता, पुत्र पत्नी, धन, सम्पत्ति, यश, प्रतिष्ठा, सुन्दर स्त्रियाँ आदि के प्रति

सांसारिक इच्छाएँ उस प्रेम में बाधक नहीं हो पाती हैं। सारे नाते-रिश्ते उस ईश्वरीय प्रेम के सामने गौण हैं। ईश्वर प्रेम सबसे ऊपर रहता है। हमारे बुजुर्गों ने इस आध्यात्मिक स्थिती को 'तस्फ़िया क़ल्ब' (हृदय का निर्मल होना) कहा है।

इसके विपरीत, संसार के प्रति लगाव व सांसारिक इच्छाएँ बाह्य हृदय (नफ़्स) को शक्ति प्रदान करती हैं। बाह्य हृदय (नफ़्स) का स्वभाव ही है कि वह सदैव लोभ, ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, नीचता, अहँकार, शत्रुता, काम, पद-प्रतिष्ठा आदि की ओर झुकाव रखता है। इन दुर्गुणों को रोकना, नियंत्रित करना व नष्ट करना ही तज़किया नफ़्स कहलाता है।

सूफी सन्तों की भाषा में तज़किया नफ़्स (अहँ व इच्छाओं को नष्ट करना) को जज़्ब (ईश्वर प्रेम) भी कहा जाता है और तस्फ़िया क़ल्ब (निर्मल हृदय) को ईश्वरी ज्ञान (सलूक) कहा जाता है। (पूज्य महात्मा राधामोहन लाल जी के कहने का तात्पर्य यह है कि हृदय में ईश्वर प्रेम तभी पैदा होता है जब हम संसार के प्रति लगाव व सांसारिक इच्छाओं को नष्ट करे। ईश्वर प्रेम व संसार के प्रति लगाव साथ-साथ नहीं रह सकते हैं। जब तक हृदय निर्मल नहीं होगा तब तक ईश्वरीय ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता है। हमने अपने हृदय में इच्छाएँ, दुर्गुण जन्म-जन्मान्तर के संस्कारों को भर रखा है। मल, विक्षेप व आवरणों को हटा कर हृदय को निर्मल बनाने पर ही उसमें ईश्वरीय ज्ञान प्रवेश कर पाता है।)

भिन्न-भिन्न अध्यात्मिक धाराओं के बुजुर्गों के अनुसार सलूक (ईश्वरीय ज्ञान पहले होता है और जज़्ब (ईश्वर प्रेम) बाद को। उनका विश्वास था कि इस मार्ग पर चलने वालों को पहले तस्फ़िया क़ल्ब (ईश्वरीय ज्ञान हासिल करें और फिर तज़किया नफ़्स (ईश्वर प्रेम) के लिए प्रयत्न करें। इस विश्वास का आधार था कि यदि हमारे अध्यात्मिक हृदय में ईश्वरीय ज्ञान (तस्फ़िया क़ल्ब) प्रवेश कर गया है जो उस ज्ञान की शक्ति एवं प्रभाव से सांसारिक इच्छाएँ (नफ़्स) धीरे-धीरे नष्ट हो जायेगी और फिर ईश्वर प्रेम की ओर हम उन्मुख होंगे। इसके विपरीत हमारे सर्वोच्च

अध्यात्मिक मार्ग (सिलसिला आलिया) के सभी बुजुर्गों और सन्तों ने कहा है कि ईश्वर प्रेम (तज़किया नफ़्स) पहले और फिर ईश्वर ज्ञान (तस्फ़िया क़ल्ब) इस मार्ग पर चलने वालों के लिये ईश्वर प्रेम प्राथमिक महत्व की वस्तु है। समर्थ अध्यात्मिक गुरु (मुर्शिद-ए-कामिल) में पूर्ण श्रद्धा, विश्वास, व समर्पण की भावना रखने से शिष्य को ईश्वर प्रेम (तज़किया नफ़्स) इस मार्ग में जल्दी हासिल हो जाता है। यदि ईश्वर प्रेम हासिल हो गया है तो ईश्वरीय ज्ञान का मार्ग बहुत सरल व सीधा हो जाता है। यदि शिष्य में श्रद्धा व समर्पण की कमी है तो इन अध्यात्मिक स्थितियों को कभी नहीं पाया जा सकता है। वे शिष्य धन्य हैं जिन्होंने जज़्ब (ईश्वर प्रेम) को पाया है। ऐसे शिष्यों के लिये उच्चतर अध्यात्मिक स्थितियों तक पहुंचना केवल कुछ घंटों या दिनों की बात है। बगैर जज़्ब (ईश्वर प्रेम) के इन ऊँची स्थिति तक पहुंचने में बरसों लग सकते हैं। जज़्ब वाले शिष्य एक साफ बर्तन की तरह होते हैं। जिन पर तुरंत पालिश की जा सकती है। बगैर ईश्वर प्रेम (जज़्ब) पाये हुए शिष्य कभी पूर्णता को नहीं पहुंच सकते हैं। ऐसे शिष्य यदि किसी कारणवश उच्च अध्यात्मिक स्थितियों तक पहुंच भी जाते हैं। तब भी -उनकी यह सफलता धब्बेदार ही कही जायेगी। ऐसा व्यक्ति एक जंग लगे बर्तन की तरह है जिस पर पालिश नहीं की जा सकती है। यदि पालिश कर भी दी जाय तो भी गंदा व धब्बेदार ही कही जायेगी। हजरत मुज़द्दिद के इन महान शब्दों को याद रखिये कि ईश्वरीय ज्ञान (तस्फ़िया क़ल्ब) प्राप्त करने से पहिले ईश्वर प्रेम (तज़किया नफ़्स) की मंजिल पर पहुंचना चाहिये। यही हमारे इस सर्वोच्च आध्यात्मिक मार्ग (सिलसिला आलिया) की शिक्षा का आदि और अन्त है।

खण्ड - 3

सतगुरु (पीर दस्तगीर मुर्शिद-ए-कामिल)

अध्यात्मिक उन्नति के लिये एक ऐसे सतगुरु (पीर दस्तगीर मुर्शिद-ए-कामिल) की नितांत आवश्यकता है जो शिष्य का हाथ पकड़ कर उसे मार्ग दर्शन कराता रहे। बुज़ुर्गों ने फरमाया है:-

सतगुरु ऐसा हो जो अग्नि के समान हो जो पल भर में जन्म-जन्मान्तर के बुरे संस्कारों को भस्म कर दे।

तीरथ गये एक फल, संत मिलै फल चार ।
सतगुरु मिलै अनेक फल, कहें कबीर विचार ॥

मैं (ईश्वर) अपने उपासक प्रेमीजनों के हृदय में निवास करता हूँ यदि तुम मुझे चाहते हो तो उनके पास जा कर मुझे माँगो।

यदि सतगुरु कहते हैं "प्रार्थना वाला आसन शराब में भिगो दो" तो तुरन्त आज्ञा पालन करना चाहिये क्योंकि वह इस मार्ग के सभी राजों को जानता है।

सदैव याद रक्खो कि इस मार्ग के जिज्ञासुओं और शिष्यों के लिये समर्थ अध्यात्मिक गुरु (मुर्शिद-ए-कामिल सदगुरु) की उपस्थिति परमात्मा की महान कृपा है। यह स्पष्ट है कि इस संसार में बगैर गुरु के कोई भी ज्ञान हासिल नहीं किया जा सकता है। ज्ञान प्राप्त करने के लिये शिष्य को एकाग्र चित्त होकर अपने गुरु को सेवा में अर्पण करना चाहिये। अध्यात्मिक ज्ञान (इल्म बातिनी) बगैर गुरु के नहीं पाया जा सकता है। शिष्य को सच्चे मन से अपना तन, मन व धन गुरु को समर्पित करना होगा। बुजुर्गों ने कहा है कि फल वाले वृक्ष सूनसान जंगलों में आम तौर पर फल नहीं देते हैं और यदि देते भी हैं तो उनका जायका अच्छा नहीं होता है। यह

महत्वपूर्ण और आवश्यक है कि आध्यात्मिक रूप से बैत होने के लिये सतगुरु की खोज में विशेष सावधानी बरतनी चाहिये। यदि किसी ने भूल से ऐसे व्यक्ति से बैत (दीक्षा) प्राप्त किया है जिसने न तो किसी समर्थ गुरु के निर्देशन में जज़्ब (ईश्वर प्रेम) व सलूक (ईश्वरीय प्रेम) जैसी अध्यात्मिक स्थिति तक अपनी पहुंच बनायी है और न ही उसमें किसी के हृदय परिवर्तन करने की क्षमता है तो ऐसा बैत (दीक्षा) बिल्कुल व्यर्थ है और व्यक्ति के जीवन काल व उसके अंतिम समय में नुकसानदायक हो सकता है। यह भी कहा गया है कि धोखे या भूल से गलत दीक्षा प्राप्त व्यक्ति को यह अधिकार है कि वह अपनी अध्यात्मिक उन्नति के लिये किसी अन्य जगह भी जा सकता है। ऊँची अवस्थाओं को प्राप्त एक समर्थ गुरु से बैत हासिल करना व उनसे गहरा सम्बन्ध ईश्वर की असीम दया व कृपा है। शिष्य का कर्त्तव्य है कि ऐसे गुरु से अपना रिश्ता और मजबूत करें।

इस अध्यात्मिक मार्ग पर कोई भी ऐसा जिज्ञासु या शिष्य आगे नहीं बढ़ सकता है जिसने सही ढंग से बैत (दीक्षा) नहीं प्राप्त किया है और न ही गुरु से अध्यात्मिक सम्बन्ध स्थापित कर पाया है, ऐसे व्यक्ति के लिये रुहानियत में तरक्की न केवल मुश्किल है बल्कि असंभव है। सतगुरु के लक्षण, सतगुरु (मुर्शिद-ए-कामिल) को कैसे जाना जाय व बुजुर्ग सतगुरु कैसे अपने शिष्यों की मदद करते हैं, इन बातों को भी समझना बहुत जरूरी है।

इस मार्ग के बुजुर्ग सन्तों के अनुसार पूर्णत्व प्राप्त सतगुरुओं (मुर्शिद-ए-कामिल) की तीन श्रेणियाँ है:-

1. मुख्तियार (प्रथम श्रेणी के सतगुरु)
2. माजून (द्वितीय श्रेणी के सतगुरु)
3. मगलूब (तृतीय श्रेणी के सतगुरु)

मुख्तियार बुजुर्ग (प्रथम श्रेणी) सबसे ऊँचे शिखर पर है। वे किसी भी नियम या सीमाओं से बंधे नहीं होते हैं। यदि वे चाहें तो क्षण मात्र में किसी को भी अध्यात्म विद्या की चोटी पर पहुंचा सकते हैं। उनकी तवज्जोह, उनकी सोहबत और प्रभाव में चमत्कारी प्रभाव होता है।

माजून बुजुर्ग (द्वितीय श्रेणी) अगले स्तर के सतगुरु होते हैं। वे भी मुख्तियार बुजुर्ग (प्रथम श्रेणी) की तरह ही कार्य कर सकते हैं लेकिन उनके अध्यात्मिक स्तर व गहरायी में अन्तर होता है। माजून बुजुर्ग ईश्वर की इच्छा व प्रेरणा की प्रतीक्षा करते हैं और जब वहाँ से इशारा हो जाता है तभी शिष्य का हृदय परिवर्तन करते हैं ।

मगलूब बुजुर्ग, तृतीय स्तर के सदगुरु होते हैं। वे परिस्थिति, वातावरण व ईश्वर की दया पर निर्भर रहते हैं और परमात्मा की इच्छा व दिशा निर्देश की प्रतीक्षा करते रहते हैं। ईश्वर की ओर से प्रेरणा मिलने पर मगलूब सतगुरु भी बगैर अहँकार के मुख्तियार सतगुरु की तरह अपनी अध्यात्मिक शक्ति से शिष्य या जिज्ञासु का हृदय परिवर्तन करते हैं। यह ईश्वर की महान कृपा है कि हमारे सर्वोच्च आध्यात्मिक मार्ग (सिलसिला आलिया) के सभी सतगुरु मुख्तियार (प्रथम श्रेणी) स्तर के ही हैं। ऐसा हमारा विश्वास है । ऐसे सतगुरु की सोहबत, दया एवं आशीर्वाद से ही रुहानियत हासिल की जा सकती है।

खण्ड - 4

सतगुरु के लक्षण

अध्यात्मिक अधिकार एवं शक्ति प्राप्त संत को निम्नलिखित लक्षणों के द्वारा पहचाना जा सकता है:-

1. जिसके वर्णन, दर्शन, सोहबत या सम्बन्ध से सांसारिक इच्छाएँ कम होती हैं और ईश्वर व उसके भक्तों के प्रति प्रेम बढ़ता जाता है।

2. जो दयालु हो और सरलता व सादगी से जीवन बिताता हो।

3. जिसका व्यवहार आदर्श योग्य हो।

4. जो सांसारिक मामलों में सहृदय व दानशील हो और अध्यात्मिक मामलों में दयालु व सुधि लेने वाला हो। वे अपनी आध्यात्मिकता को दूसरों से छिपाते नहीं है।

5. जो अध्यात्मिक मार्ग के ख़तरों से वाकिफ हो।

6. जिसे हृदय में रुहानियत का बीज डालने का अनुभव हो। तैयार भूमि (उपयुक्त पात्र) में ही बीज डाला जाये क्योंकि ऊसर व बंजर भूमि में बीज व्यर्थ जाता है।

7. जो दूसरों के हृदय की बात समझता हो, आध्यात्मिक रहस्यों को समझाने की योग्यता रखता हो तथा दूसरों को शिक्षा देने का अधिकार प्राप्त हो।

8. ऐसे बुजुर्ग सन्तों से सम्बन्ध रखने वाले व्यक्तियों में भी ये लक्षण पाये जाते हैं।

निस्संदेह ऐसे लक्षणों वाला व्यक्ति पूर्णता प्राप्त समर्थ सदगुरु होगा (कामिल व वली)। यदि अच्छी किस्मत और ईश्वर की कृपा से ऐसा सतगुरु मिल जाय तो शिष्य को एक मृत व्यक्ति के समान समर्पण कर देना चाहिये। (आशय यह है कि जैसे एक मृत व्यक्ति का अपना कोई वजूद नहीं रह जाता है, वहाँ कोई विचार, इच्छा, अहँकार, कर्तापन की भावना आदि कुछ भी नहीं होता उसी प्रकार मिस्ल मुर्दा गुरु के प्रति समर्पित होना चाहिये)

इस बात को अच्छी तरह समझ लेना चाहिये कि इस संसार में किसी शिक्षक द्वारा दिया गया भौतिक ज्ञान कभी भूलता नहीं है। वह शिष्य की सम्पत्ति है चाहे शिष्य का शिक्षक पर विश्वास न हो या वह शिक्षक की निन्दा भी करता हो। अपने स्वयं के प्रयत्न व लगन से ऐसे भौतिक ज्ञान को आगे भी बढ़ाया जा सकता है। परन्तु हमारे यहाँ इसका बिल्कुल उल्टा है। यहाँ गुरु एवं शिष्य में जरा सा भी अहँकार है, श्रद्धा और विश्वास में कमी है या बेअदबी है तो उसका सारा अध्यात्मिक ज्ञान व शक्ति नष्ट हो जाती है। यदि ऐसा होने पर भी शिष्य अपनी रूहानी हालत को बेहतर समझता है तो इसे भूतकाल में अर्जित की हुई विरासत ही समझना चाहिये और समय बीतने के साथ ही एक शोले की तरह यह बची खुची ऊर्जा ठंडी होकर एक दिन नष्ट हो जायेगी।

खण्ड - 5
मार्ग की तीन पद्धतियाँ

बुजुर्गों (मुरशिद-ए-कामिल) के तीन स्तरों (श्रेणियाँ) की तरह ही ईश्वर प्राप्ति के तीन अध्यात्मिक साधन है:-

1. जिक्र-ए-ख़फी - निरंतर ईश्वर चिन्तन (याद)

2. राब्ता-बा-शेख - सतगुरु में पूरा विश्वास

3. सोहबत मुर्शिद-ए-कामिल - सतगुरु का साथ

जिक्र-ए-ख़फी

इसका अर्थ है शरीर, मस्तिष्क व हृदय से निरन्तर ईश्वर की याद (चिन्तन)। जोर-जोर से चिल्ला कर किये हुए जाप का कोई भी लाभ नहीं होता है। इस प्रकार से किया हुआ जाप शरीर व मन को कमजोर करता है और शिष्यों के लिये शारीरिक रूप से कष्टदायी है । बुजुर्ग सन्तों का कहना है कि जाप (ईश्वर की याद) आध्यात्मिक हृदय (जिक्र-ए-क़ल्बी) से करना चाहिये। जुबान या मुँह से किये हुए जाप का अध्यात्मिक उन्नति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। शिष्य अपने मत, विश्वास और बुद्धि के आधार पर परमात्मा का कोई भी नाम चुन लेता है और उस 'नाम' का बार-बार जाप करने से रुहानियत में तरक्की होती है। मुख्य बात यह है कि सतगुरु की चुम्बकीय अध्यात्मिक शक्ति पर ही ईश्वर का निरंतर जाप (जिक्र-ए-क़ल्बी) निर्भर करता है । सतगुरु (मुर्शिद-ए-कामिल) की तवज्जोह ही शिष्य के अध्यात्मिक हृदय में परमात्मा की याद पैदा करता है। फिर तो ईश्वर की याद और 'नाम' बिना किसी प्रयत्न, जाप या रियाज़त के उसके हृदय में स्वतः स्थिर हो जाता है। जब ऐसा घटित हो तो शिष्य का कर्त्तव्य है कि इस अध्यात्मिक हालत को मुकम्मिल करने की कोशिश करे। परम सन्त कबीर साहब फ़रमाते हैं:-

सतगुरु मेरा सूरमा, मारे शब्द की चोट।
गोला मारे प्रेम का, ढ़हे भ्रम का कोट॥

नाम जप पर गोस्वामी तुलसीदास जी ने रामचरित मानस में लिखा है -

जासु नाम सुमिरत एक बारा। उभरे भव-सिन्धु अपारा॥
जनम जनम मुनि जतन कराहीं। अन्त राम कहँ आवत नाहीं॥

निरन्तर ईश्वर के नाम जप (जिक्र-ए-क़ल्बी) से शिष्य तमाम बन्धनों से मुक्त हो जाता है और ईश्वर मिलन की अध्यात्मिक स्थित (सुर-ए-आब्दी) तक पहुंच जाता है। शर्त केवल इतनी है कि सतगुरु (मुर्शिद-ए-कामिल) द्वारा दिये गये 'नाम' को लगातार जाप करता रहे। हमारे मार्ग की भाषा में सतगुरु द्वारा दिया गया नाम परमात्मा का सबसे पवित्र नाम (इज्म-आजम) माना जाता है। पहले इज्म आजम का ज्ञान तमाम बुजुर्ग सन्तों व पीरों को हुआ था। परन्तु यह बात सभी शिक्षकों पर लागू नहीं होती है। केवल मुख्तियार बुजुर्ग (प्रथम श्रेणी के संत) ही सच्चे ज्ञान ओर उसकी साधना के आधार पर इस ईश्वरीय दौलत के हकदार बनते हैं। लगातार परमात्मा की याद (जिक्र-ए-खफ़ी) के लिये सांसारिक ज्ञान या प्रवचनों का कोई महत्व नहीं है।

राब्ता-ब-शेख (सतगुरु में पूर्ण श्रद्धा व विश्वास)

इसका अर्थ है कि शिष्य को अपने सतगुरु में पूर्ण विश्वास व श्रद्धा रखनी चाहिये। जब शिष्य के हृदय में गुरु के प्रति उत्कंठ इच्छा व भक्ति पैदा होती है वह अपने सतगुरु के प्रति पूरी तरह से समर्पित हो जाता है, उनकी आज्ञा का पालन करता है, अपने अहँ को पूरी तरह से नष्ट कर देता है, और अन्त में अपने को गुरु में लय कर देता है। ऐसी अध्यात्मिक स्थिति को फना-फिल-शेख (सतगुरु में लय होना) कहते हैं। इस स्थिति में गुरु व शिष्य का अध्यात्मिक भेद समाप्त हो जाता है। दोनों मिलकर एक हो जाते हैं। चूँकि दोनों में अब कोई भेद नहीं रहा इसलिये गुरु

के हृदय में बसा हुआ परमात्मा का संदेश (सुर-ए-आब्दी) शिष्य के हृदय में प्रवेश कर जाता है, परम सन्त कबीर साहब फ़रमाते हैं:-

बंधे को बंधा मिले तो रहे बन्ध में बन्ध ।
कर सेवा सतगुरु की, जो आन छुड़ाने बन्ध ॥

जब मैं था तब गुरु नाही, जब गुरु है मैं नाहिं ।
प्रेम गली अति साँकरी, जामे दो न समाँय ।

मेरी बात बन जाये उसका कलाम,
मेरी चाल हो जाये उसका एहतराम ।

न लैला रहे, न मजनू रहे ।
फकत दरमियान एक मज़मून रहे ॥

ऐसे में शिष्य का अपना कोई वजूद नहीं रह जाता है और गुरु के व्यक्तित्व में शिष्य पूरी तरह विलय हो जाता है । शिष्य का अहँ व सांसारिक इच्छाएँ (नफ़्स) भी गुरु में समाहित हो जाती है । इसे पूर्ण समर्पण कहा गया है । यदि गुरु में पूर्ण श्रद्धा (राब्ता वा शेख) नहीं है तो इस स्थिति तक कभी नहीं पहुंचा जा सकता है । गुरु में पूर्ण श्रद्धा लाने के साधन है - प्रेम, नजदीकी व सत्संग । गुरु के प्रति शिष्य की पूरी श्रद्धा व विश्वास को परखने के यह मापदण्ड हैं:-

जब शिष्य गुरु से सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु को पसंद करता हो, जब गुरु के प्रत्येक कार्य को वह स्वतः स्वीकार करे, जब हर क्षण उसका हृदय व विचार गुरु प्रेम की लहरों में बहे, जब वह हमेशा गुरु की आज्ञा पालन के लिये तत्पर रहे व आज्ञा पालन उसकी प्राकृतिक आदत बन जाये । शिष्य की ऐसी हालत को विलायत-ए-सुगरा (परमात्मा की याद की अध्यात्मिक स्थिति) कहा गया है । ईश्वर की याद उसके अध्यात्मिक हृदय तक प्रवेश कर जाती है और शिष्य

फना-फिल-शेख का दर्जा हासिल कर लेता है। अब वह ईश्वर दर्शन के लिये उसके दरवाजे पर खड़ा है। इस अध्यात्मिक स्थिति के पहुंचने पर सतगुरु द्वारा शिष्य को कुछ अध्यात्मिक कार्य प्रदान किये जाते हैं। सबसे पहले उसे इस मार्ग (सिलसिला आलिया) के संदेश को अन्य जिज्ञासुओं में फैलाने की इजाजत दी जाती है।

सोहबत मुर्शिद-ए-कामिल

इसका अर्थ है गुरु की नजदीकी और उनसे पवित्र सम्बन्ध स्थापित करना। गुरु की नजदीकी और उनके प्रेम में शिष्य संसार की सारी चीजों को भूल जाता है। इस हालत को ईश्वर चिन्तन की सर्वोच्च स्थिति (सुल्तान-उल-अज़कार) कहा गया है। इसके बाद अध्यात्मिक शक्ति के तमाम केन्द्र (चक्र) खुलने लगते हैं, अपने पवित्र ज्ञान व साधना से अब शिष्य भौतिक व अध्यात्मिक दुनिया के सम्बन्ध को समझने लगता है। जब शिष्य अपने को इस स्थिति में स्थिर कर लेता है, उसकी आध्यात्मिक शक्ति इस स्तर तक बढ़ जाती है कि यदि वह चाहे तो वही हालात व शक्तियाँ दूसरे जिज्ञासुओं के हृदय में पैदा कर सकता है। सिलसिला आलिया की भाषा में उसे वली कहा जाने लगता है। इस स्थिति के बाद उसकी व्यक्तिगत आत्मा आलम-ए-बाला (विश्व आत्मा) में प्रवेश कर जाती है। अभी तक अध्यात्मिक उन्नति में केवल शारीरिक व मानसिक पहलुओं को शामिल किया गया है। इसलिये ईश्वर प्रेम (जज़्ब) की नींव को बहुत मजबूत नहीं कहा जा सकता है। सलूक (ईश्वरीय ज्ञान) का मार्ग तो बहुत कठिन है।

खण्ड - 6

ईश्वर प्रेम में डूबने के बाद

ईश्वर प्रेम (जज़्ब) के तमाम अध्यात्मिक स्तरों को पार करने के बाद शिष्य में अध्यात्मिक जागरूकता आती है। प्रेम और भक्ति की गहराई में जो बेसुधी का वातावरण था वह अब समाप्त हो जाता है। वह अब जागरूकता व होश में आ जाता है। उसकी हालत एक ऐसे यात्री की तरह है जो भूप्रदेश को पार कर समुद्र के किनारे पहुंचता है, जहाज पर चढ़ता है और कुछ समय बाद उसे चारों ओर पानी ही पानी दिखाई पड़ता है। जमीन का कहीं नामोनिशान नहीं। यहाँ तक कि जमीन का विचार भी उसके मन से गायब हो जाता है। अब शिष्य गुरु (मुर्शिद-ए-कामिल) की नजदीकी व उनकी कृपा से एक के बाद एक अध्यात्मिक स्थिति को पार करता जाता है। शिष्य अपनी जागृत चेतना से होश पूर्वक ईश्वरीय ज्ञान (सलूक) को अपने अन्दर जज़्ब करता है। खोया हुआ राज्य फिर मिल जाता है, सच्ची वास्तविकता उसके सामने है और अब ईश्वर में उसका पूर्ण विश्वास जमने लगता है। यह अध्यात्मिक स्थिति रूह (आत्मा) से सम्बन्धित है। उसकी अध्यात्मिक चेतना अब पूरी तरह से चैतन्य व जागृत हो चुकी है। इस स्थिति को कभी-कभी आत्म-साक्षात्कार (मुशाहिदा) कहा जा सकता है। यहां पर शिष्य के नीचे गिरने के खतरे बहुत हैं क्योंकि उसमें इतनी अधिक रूहानी ताकत पैदा हो जाती है कि वह अपने मस्तिष्क व बुद्धि से उस शक्ति के दुरुपयोग के लोभ से अपने को रोक नहीं पाता है। कभी-कभी सतगुरु उसकी भक्ति की परीक्षा भी लेते हैं। इसलिये यह आवश्यक है कि इस स्थिति पर पहुँचे हुए साधक को पहले से कहीं ज्यादा गुरु के प्रति प्रेम, भक्ति, सेवा पर ध्यान देना चाहिये। यदि ऐसा नहीं है तो यह समझना चाहिये कि शैतान नफ़्स (अहँ भाव) उस पर अपना प्रभाव गुप्त रूप से डाल रहा है। अध्यात्मिक पतन से उन्नति का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। नफ़्स का यही स्वभाव है कि तलवार देनेवाले पर ही तलवार चलायी जाती है। शिष्य का अहँ और मजबूत

होकर अपने को गुरु से अधिक योग्य समझने लगता है। ऐसे में जिक्र (नाम जप) की सीढ़ी, जो कि शाश्वत आनन्द की ओर ले जाती है, टूटने लगती है और शिष्य गिरकर वही पहुंच जाता है जहाँ से कि उसने अपना रुहानियत का सफर शुरु किया था।

ऐसा क्यों होता है? प्रेम की अध्यात्मिक स्थिति और गुरु को प्रेम करना बड़ा ही संवेदनशील मामला है। इसमें परिपक्वता की जरूरत है। गरिष्ठ भोजन के लिये व्यायाम जरूरी है नहीं तो अपच व अन्य बीमारियाँ घेर लेती है। बड़ी सावधानी की जरूरत है, साहसिक प्रयत्न व त्याग चाहिये। इस। स्थल पर शिष्य की सच्ची मंशा की परीक्षा हो जाती है। एक प्राचीन कहावत है कि सत्य कभी गलत कदम नहीं उठाता है। सतगुरु की पवित्र सोहबत (सोहबत पीर मुर्शिद-ए-कामिल) से शिष्य आगे बढ़ता जाता है और उच्चतर अध्यात्मिक स्थितियों का भाग बनता जाता है। उसकी उपस्थिति से अन्य जिज्ञासु का भी फायदा होता है। शिष्य ईश्वरीय ज्ञान (सलूक) को प्राप्त करता हुआ आत्म-साक्षात्कार (मुशाहिदा) की ओर तभी बढ़ पाता है जब उस पर गुरु कृपा हो, गुरु के प्रति उसका प्रेम व श्रद्धा बराबर बढ़ती रहे और वह अपने सतगुरु को रोम-रोम से पूजता रहे।

अभी तक केवल ईश्वर चिन्तन की अध्यात्मिक स्थिति (विलायत-ए-सुगरा) व कुछ अन्य ऊँचे मुक़ामों को समझाया गया है। विलायत-ए-किबरा (ईश्वर प्राप्ति की अवस्था) और विलायत-ए-उल्लिया (ईश्वर दर्शन) को अभी समझाना बाकी है। रुहानियत की इन अवस्थाओं को सार्वजनिक रूप से नहीं समझाया जाता है क्योंकि पिछले 60 सालों में हमारे यहाँ के शिष्य विलायत-ए-सुगरा (ईश्वर चिंतन की अवस्था) की अवस्था तक नहीं पहुंच पाये हैं। इन अवस्थाओं के पार होने पर रुहानियत की अन्य ऊँची अवस्थाएँ सामने आती हैं। सतगुरु में पूर्ण श्रद्धा व विश्वास ही आध्यात्मिक उन्नति का मुख्य आधार है। यदि पेड़ की जड़ें ही कमजोर हैं तो पेड़ फल नहीं दे सकता है। कमजोर नींव पर कई मंजिलें नहीं खड़ी की जा

सकती हैं। शिष्य का विश्वास जितना अधिक होगा उतना ही उसकी रुचि गुरु के सत्संग में लगेगी। उतना ही उसमें गुरु प्रेम की अग्नि प्रज्वलित होगी और उसमें अध्यात्मिक गहरायी व चमक होगी। गुरु की सोहबत व सत्संग से शिष्य ऊपर बतलायी गयी तीन अध्यात्मिक अवस्थाओं को जल्दी ही पार कर जायेगा। उसकी उन्नति इतनी आश्चर्यजनक होती है कि वह एक अवस्था में अधिक समय तक नहीं रहता है। इस यात्रा के अन्त में शिष्य अपने सतगुरु में पूर्ण रूप से लय हो जाता है। (फना-फिल-शेख) यही रास्ता है ईश्वर की सेवा का (खुदा-बन्दी), केवल कुछ भाग्यशाली ही इस मुकाम पर पहुंच पाते हैं। किसी को प्रेम करना आसान नहीं है। इस मार्ग में शिष्य को इल्लत (मुसीबतें) किल्लत (आर्थिक मुफ़लिसी) और जिल्लत (अपमान) का सामना करना पड़ता है।

जब तक न उलझो कांटों से ।
जंगल की हकीकत क्या जानो ॥

भूल कर पाँव न रखना इस राह के बीच ।
कूचये - इश्क है, कुछ रह गुजर आम नहीं ॥

जो मैं ऐसा जानती, प्रीति किये दुःख होय ।
नगर ढ़िंढ़ोरा पीटती, प्रीति करियो नाहिं कोय ॥

श्रद्धा और विश्वास का अंत है गुरु प्रेम। बगैर सेवा के गुरु प्रेम का कोई महत्व नहीं है। प्रेम और सेवा एक दूसरे के पूरक हैं। इस मार्ग (सिलसिला आलिया) के यह मुख्य तत्व हैं। बगैर इसके कोई भी ईश्वर के राज्य में प्रवेश करने का अधिकारी नहीं बन सकता है।

शिष्य के सतगुरु में लय होने से पहले प्रायः गुरु उसके विश्वास व आज्ञापालन का मूल्यांकन करने के लिये व उसे प्रोत्साहित करते हुये उसे थोड़े

समय के लिये निम्न स्तर की इजाजत प्रदान करते हैं ताकि वह दूसरों को शिक्षा दे सके।

इस प्रकार सतगुरु उसे धीरे-धीरे अध्यात्मिक खोज की तरफ आगे बढ़ाता है। यह वैसा ही है जैसा कि स्कूल कालेजों में मुलाज़िम को थोड़े समय के लिये पदोन्नति दी जाती है और फिर काम व लगन का मूल्यांकन करते हुए उसे स्थायी कर दिया जाता है। इतना होते हुए भी यदि शिष्य डाँवाँडोल रहता है तो इसका अर्थ है कि अभी भी रुहानियत में तरक्की के लिये उसकी नींव कमजोर है।

यह जानना आवश्यक है कि बुजुर्गों ने कुछ समय से इस मार्ग की शिक्षा के लिये इजाजत के तीन स्तर रक्खे है। भूतकाल में संतों ने केवल खिलाफत ही रक्खी थी। तमाम अध्यात्मिक अवस्थाओं में पूर्ण होने पर शिष्य को उत्तराधिकारी (खलीफा) बना दिया जाता था। अन्य जिज्ञासुओं को अपनी उपस्थिति में इन्हीं के माध्यम से शिक्षा दिलायी जाती थी। समय बदल गया है। रुहानियत के लिये लोगों में न तो रुचि है और न ही सहनशीलता व शक्ति। सत्य को जानने के लिए उनमें न कोई इच्छा है और न ही वे इसके लिये प्रयत्न करना चाहते हैं। हर कोई चाहता है कि मार्ग की शिक्षा उनकी इच्छाओं व सुविधा के अनुसार हो और उन्हें जल्दी ही गुरु पदवी बख्श दी जाये। इन हालातों को देखते हुए बुजुर्गों ने इस मार्ग (सिलसिला आलिया) की शिक्षा के लिये इजाजत के तीन स्तर बना दिये हैं:-

1. निम्न स्तर (इजाज़त तरीक़त-ए-तालीम) इसके अन्तर्गत शिष्य जिज्ञासुओं को केवल उतनी ही शिक्षा प्रदान करता है जितना कि सतगुरु ने उसे अधिकार दिया हो।

2. उच्च स्तर (इजाजत-ए-बैत) इसमें शिक्षा देने के अतिरिक्त गुरु के आदेश पर इस मार्ग के शिष्य भी बनाने का अधिकार दिया जाता है।

3. उच्चतम स्तर (खलीफा) इस स्तर पर शिष्य व सतगुरु के अधिकार में कोई फर्क नहीं होता है। उनके द्वारा दी गयी शिक्षा या किये गये कार्य इस मार्ग (सिलसिला आलिया) के भाग बन जाते हैं।

खण्ड - 7

शिष्य के कर्त्तव्य

इस मार्ग की शिक्षाओं के अनुसार तमाम रूहानी हालातों का जिक्र पहले किया जा चुका है। पहले जज़्ब (ईश्वर प्रेम) की अवस्था, फिर सलूक (ईश्वरीय ज्ञान) और उसके बाद पूर्णता (तकमील) प्राप्त करना चाहिये। कामिल बुजुर्ग (सतगुरु) द्वारा पूर्ण इज़ाज़तयाफ्ता शिष्य को इस मार्ग की शिक्षाएँ देना चाहिये। स्वार्थ एवं अहँ से दूर रहना चाहिये। ईश्वर की दया एवं सतगुरु की कृपा पर गर्व करना अच्छी बात है। लेकिन जब तक सतगुरु बार-बार आज्ञा न दें तब तक बैत (दीक्षा) नहीं करना चाहिये क्योंकि एक निश्चित समय में केवल एक ही सतगुरु होता है। बैत (दीक्षा) करने वाला व्यक्ति पूर्ण रूप से समर्थ होना चाहिये। व्यक्ति में भक्ति, आज्ञा पालन, दया, सेवा आदि के भाव उसके परिवार व संस्कृति से मिलते हैं। बुजुर्ग सन्तों का यशगान करना हमारा कर्त्तव्य है। बैत (दीक्षा) करने का अधिकार उसी को है जिसे बुजुर्ग सन्तों ने अधिकृत किया हो ओर जिसने तमाम रूहानी अवस्थाओं को पार कर पूर्णता (तकमील) हासिल कर ली हो। इसके विपरीत कार्य करने वाले को गुरु कृपा नहीं मिलती है और उनकी सारी रूहानी दौलत भी नष्ट हो जाती है।

हमें ईश्वर से प्रार्थना करनी चाहिये कि ऐसे तमाम लोग जो हम से बंधे हैं और जिन पर बुजुर्ग सन्तों की छाया है, शैतान के लालच व फन्दे में न फंसे और उनका हृदय सदैव ईश्वर भक्तों व बुजुर्गों के प्रेम से भरा रहे। हमारे समाज में स्वार्थ व अहँ इस क़दर बढ़ गया है कि हर कोई केवल गुरु ही बनना चाहता है, शिष्य नहीं। दूसरे जिज्ञासु के सामने हर व्यक्ति अपने को बुजुर्ग बतलाते हैं। यह अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि इस मार्ग की शिक्षाओं और निर्देशों को पूरी तरह से समझा जाये।

कुछ विशेष शिष्य ऐसे होते हैं जिन्हें रुहानियत की ऊँची अवस्थाओं तक पहुंचने में कम मेहनत करनी पड़ती है। कुछ अज्ञानी व्यक्ति इस पर प्रश्न चिन्ह लगाते हैं। परन्तु यह सत्य है। ऐसे शिष्यों को ज्यादा शिक्षा, ट्रेनिंग व निर्देशों की जरूरत नहीं होती है जो पीढ़ी दर पीढ़ी आध्यात्मिक प्रेम, भक्ति व विश्वास में पल रहे होते हैं। ऐसे विशेष शिष्यों को एक खास तरीके से शिक्षा दी जाती है। जिसे वहाबी तरीका (प्रत्यक्ष अनुभव) कहा जाता है। जब बुजुर्ग सन्तों को प्रेरणा मिलती है या परिस्थितियाँ अनुकूल हों तो शिष्य को एक क्षण में अध्यात्म की सबसे ऊँची चोटी पर बिठा दिया जाता है। यह कार्य केवल प्रथम श्रेणी के संत (मुख्तियार बुजुर्ग) ही कर सकते हैं। वे अपनी विशेष तवज्जोह शिष्य के हृदय पर डालते हैं। यदि शिष्य में गहरी इच्छा, गुरु में पूर्ण विश्वास व श्रद्धा का अभाव है तो ऐसा करना सम्भव नहीं है। लोग यह सोच सकते हैं कि ऊँची अध्यात्मिक स्थिति तक एक क्षण में कैसे पहुँचाया जा सकता है। यदि पूरी तरह से समझ लिया जाय तो यह बिल्कुल साफ है। यदि अलग-अलग पक्षियों के अंडे एक मुर्ग़ी के नीचे सेने के लिये रक्खे जायें तो इन अंडों से अलग-अलग किस्म के पक्षी ही निकलेंगे। बटेर जंगलों में उड़ती है, चूज़े मिट्टी में खेलते हैं जबकि बतख़ पानी में तैरती है। इसी प्रकार जिन शिष्यों में जन्मजात अध्यात्मिक लगन, समझ व शिष्टाचार के बीज हैं वे शीघ्र ही ईश्वर प्रेम रूपी नदी में डूब जाते हैं। यदि ईश्वर ने अवसर दिया और दया दिखायी और बुजुर्गों ने आशीर्वाद दिया तो ऐसे सभी शिष्य मेरे जीवन काल में ही रुहानियत की ऊँची मंज़िलों को पार कर पूर्णता (तकमील) को पहुँचेंगे। तब वे सारा जीवन बुजुर्गों के चरण चिन्हों पर ही चलेंगे। यदि वे इस मार्ग (सिलसिला आलिया) की शिक्षाओं को त्याग देंगे तो वे कहीं के नहीं रहेंगे। बुजुर्ग सन्तों ने इस मार्ग की स्थापना की है और हमारा कर्तव्य है कि हम (सिलसिला आलिया) पर चलें।

खण्ड - 8

तीन अध्यात्मिक अवस्थायें

इस मार्ग में तीन अध्यात्मिक अवस्थायें (विलायत) बतलायी गयी हैं। ये हैं:-

1. विलायत-ए-सुगरा (परमात्मा की याद)
2. विलायत-ए-किबरा (ईश्वर का साक्षात्कार)
3. विलायत-ए-उल्लिया (ईश्वर दर्शन)

विलायत-ए-सुगरा (ईश्वर की याद)

यह एक निम्न अध्यात्मिक अवस्था है । इसकी ऊँची स्थिति में जिक्र-ए-ख़फी (हृदय में ईश्वर की याद) मनुष्य के व्यक्तित्व का एक हिस्सा बन जाता है और उसके रोम-रोम में ईश्वर की याद बस जाती है । यह स्थिति सुल्तान-उल-अज़कार (यादों का राजा) कहलाती है । अब शिष्य में गुरु के प्रति अपार प्रेम पैदा होता है और गुरु व शिष्य के बीच सारे परदे गायब हो जाते हैं । शिष्य स्वतः जानने लगता है कि गुरु के हृदय में क्या विचार आ रहे हैं। धीरे-धीरे उसकी यह हालत स्थिर होने लगती है। चक्रों (लतीफ़ों) के रहस्य उसके सामने खुलने लगते हैं। जिक्र (याद या जाप) के गहरे होने पर अनजाने में ही चमत्कार होने लगते हैं। ईश्वरीय चेतना जागृत होने पर अब धीरे-धीरे शिष्य फना-फिल-शेख (लय अवस्था) की ओर बढ़ जाता है।

विलायत-ए-किबरा (ईश्वर का साक्षात्कार)

यह उसके आगे की उच्च स्थिति है। इस स्थिति में जिक्र (जाप) शिष्य की आत्मा (रूह) में प्रवेश कर जाता है। अब शिष्य की आत्मा में रुहानियत की तड़प पैदा होती है। उसका मिलन शाश्वत विश्वआत्मा से होता है और परम सत्य का उसे आभास होता है। सूफियों की भाषा में इसे मुशाहिदा (आत्म साक्षात्कार) कहा जाता

है। उसे अपने असली स्वरूप का ज्ञान होता है वह अंतिम सत्य को जान कर उस शाश्वत विश्व चेतना में अपने को विलय कर एक हो जाता है। अब उसे सांसारिक लोगों की आलोचना की परवाह नहीं रहती। यदि कोई व्यक्ति उसके इस रूहानी सफर में रुकावट डालता है तो उसे वह अपनी अध्यात्मिक शक्ति से दूर कर देता है। विलायत-ए-सुगरा की तुलना में विलायत-ए-किबरा की अध्यात्मिक हालत में गुरु प्रेम व भक्ति अधिक गहरी हो जाती है और बुजुर्ग संतों के लक्षण शिष्य में प्रगट होने लगते हैं।

रुहानियत के सफर में विलायत-ए-किबरा की स्थिति आवश्यक तो है परन्तु इसमें खतरे भी हैं। अनजाने में शिष्य से चमत्कार होने लगते हैं। यह भी मुमकिन है कि शिष्य में बेवफाई पैदा हो जाय, गुरु को दोषारोपण करें, गुरु से दूरी बनाये या अपने को ईश्वर घोषित कर दें। अच्छे-अच्छे शिष्यों का इस अवस्था में पतन हो जाता है। शिष्य यह सोचने लगता है कि इससे पहले की स्थिति कहीं ज्यादा अच्छी थी क्योंकि यहाँ पर कोई आनन्ददायक नज़ारे नहीं दिखायी देते हैं। सांसारिक इच्छाएँ (नफ़्स) भी उसे प्रलोभन देती हैं। शिष्य, जिसने कि बड़ी मुश्किल से यह दर्जा हासिल किया है, अब अपने आप को संत घोषित कर देता है। वह अपने सतगुरु से अपने आप को ऊँचा और बेहतर समझने लगता है। यह सब ईश्वर की कृपा से वंचित होने व पतन के लक्षण हैं। परन्तु यदि उसमें गुरु, प्रेम, श्रद्धा, विश्वास, सेवा भाव, आदि बढ़ते जायें तो अब शिष्य तीसरी अवस्था (विलायत-ए-उल्लिया) में प्रवेश कर जाता है यदि ऐसा होता है तो शिष्य पूर्णता हासिल कर लेता है। यह इस मार्ग (सिलसिला आलिया) की तकमील अवस्था है।

विलायत-ए-उल्लिया (ईश्वर दर्शन)

यह अध्यात्मिक अवस्था देवदूतों (फ़रिश्तों) की है। प्रारम्भ में सृष्टिकर्ता ने फ़रिश्तों (देवदूतों) के रूप में कुछ पवित्र आत्माओं का निर्माण किया। उनकी सही संख्या केवल ईश्वर ही जानता है। इनमें पवित्र ईश्वरीय प्रकाश होता है। उनसे कोई

गलत काम नहीं हो सकता है। वे अपने कर्तव्यों को बगैर गलती किये हुए पूरा करते हैं। जब शिष्य इस ऊँची स्थिति तक पहुंचता है तो उसे फ़रिश्तों का दर्शन होता है। सूफियों की भाषा में इसे पवित्र दर्शन (कश्फ़ मलाइका) कहा जाता है। शिष्य खुली आँखों से या ध्यान में इस संसार में प्रभु की लीला देखता रहता है पर बोलता कुछ नहीं। इस स्थित में मौन रहना ही ठीक है। इस स्थिति में सतगुरुओं ने अपने शिष्यों को भी विलायत-ए-उल्लिया का अहसास कराया है। विलायत-ए-उल्लिया की अवस्था बड़ी संवेदनशील है:- शिष्य की आत्मा अपने स्वभाव के अनुरूप ईश्वर दर्शन के बाद इस शारीरिक शरीर में वापस नहीं लौटना चाहती और यदि यह लौटती भी है तो यह शरीर में बड़ी मुश्किल से प्रवेश करती है। इस अवस्था में बुजुर्गों ने शारीरिक मृत्यु को स्वीकार किया है। आत्मा को शरीर में फिर प्रवेश के लिये शिष्य का पूरी तरह से स्वस्थ होना व सतगुरु की रूहानी ताकत दोनों ही महत्वपूर्ण हैं। इस रूहानी अवस्था में यदि शिष्य कोई कार्य सतगुरु की इच्छा के विपरीत भी करता है तो भी उसे उचित माना जाता है क्योंकि अब सारे कार्य ईश्वर के निर्देशों पर ही होते हैं जो कि गलत नहीं हो सकते हैं। अब सतगुरु (मुर्शिद-ए-कामिल) का व्यक्तित्व भी शिष्य का अनुसरण करता है। वे उसे केवल सहायता भर देते हैं। शिष्य अच्छाई व बुराई दोनों से ऊपर उठ जाता है और वह किसी भी नियम से बंधा नहीं होता है। प्रत्येक कार्य ईश्वर का और उसकी ओर से किया हुआ होता है। सिलसिला आलिया (मार्ग) की भाषा में इसे फक्र कहा जाता है क्यों कि शिष्य सुख-दुख आदि से ऊपर उठ जाता है। इस बहुमूल्य रूहानी ख़ज़ाने (फक्र) के मिलने पर अब शिष्य की अध्यात्मिक दौलत अच्छे व बुरे कर्मों के मुताबिक न बढ़ती है न घटती है।

इस अवस्था (विलायत-ए-उल्लिया) के बारे में गंभीरता पूर्वक विचार कीजिए। आजकल आगे बढ़कर इस रूहानी अवस्था को हासिल करने की न तो किसी की इच्छा न स्वभाव में है और न ही साहस व लगन है। शिष्य द्वारा इन सभी आध्यात्मिक अवस्थाओं को प्राप्त करने के बाद सतगुरु उसे अपना उत्तराधिकारी

(खलीफा) बना देता है और प्रेम पूर्वक उसे इस मार्ग की शिक्षा देने का अधिकार प्रदान करता है। ऐसा शिष्य कभी भी परमात्मा की कृपा व दया से वंचित नहीं होता है।

खण्ड - 9

उपसंहार

यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि संत (औलिया) और सतगुरु (मुर्शिद-ए-कामिल) कभी मृत्यु को नहीं प्राप्त होते हैं। वे आध्यात्मिक रूप से हमेशा मौजूद रहते हैं। शारीरिक उपस्थिति के लिये वे अपने चारों तरफ परदा किये रहते हैं। अपने जीवन काल में वे पूर्णता (तकमील) हासिल कर लेते हैं और हमेशा उसी स्थिति में स्थिर रहते हैं। उनकी आत्मा आलम-ए-बाला (विश्वआत्मा) में लय हो जाती है और वे सदैव ईश्वर दर्शन में निमग्न रहते हैं। जब वे अपना नश्वर शरीर छोड़ते हैं तो पूरी तरह स्वतंत्र हो जाते हैं और रूहानी दुनियाँ का एक अंग बन जाते हैं। तब वे पहले से कहीं ज्यादा कारगर तरीके से इस मार्ग के भक्तों को सहायता देते हैं व अपनी कृपा बरसाते हैं। लेकिन यह आध्यात्मिक सहायता केवल चैतन्य (जीवित) संतों के माध्यम से ही दी जा सकती है क्योंकि जीवित प्राणी ही दूसरे प्राणी को फायदा पहुंचा सकता है। कोई भी व्यक्ति संतों की समाधियों या अन्य स्थानों पर जाने से पूर्णता (तकमील) नहीं पा सकता है। इसीलिये हर बुजुर्ग संत ने अपने शिष्य तैयार किये ताकि सिलसिला आलिया (मार्ग) की शिक्षा का रास्ता बन्द न हो जाये। कहावत है कि एक जीवित लोमड़ी एक मृत शेर से कहीं ज्यादा अच्छी है। जैसे भी हो सके, आप सबके लिये यह आवश्यक है कि इस मार्ग में पूर्णता पाने की कोशिश करते रहें। संतों ने कहा है कि हमेशा मुख्तियार बुजुर्ग (प्रथम श्रेणी के सन्त) की तलाश करनी चाहिये।

बहुत समय गुजर चुका लेकिन अभी भी मुझे पूज्य बुजुर्ग लाला जी साहब (महात्मा रामचन्द्र जी महाराज फतेहगढ़) के शब्द याद हैं। (मेरे कानों में वे शब्द अभी भी गूंज रहे हैं) कि तमाम खोज व शोध के बावजूद मुझे इस रूहानी मार्ग (सिलसिला आलिया) से बेहतर कोई अन्य मार्ग नहीं मिल पाया जो कि आत्मा को आनन्द व शान्ति प्रदान कर सके। यह ईश्वर की रहमत ही है कि घर बैठे हम लोगों

को यह नायाब तोहफा मिल सका। यह तोहफा दैवी कृपा से युक्त है क्योंकि ईश्वर ही इस कृपा को देने वाला है और वही हमारे कल्याण का एकमात्र अधिकारी है।

हमेशा अच्छी सोहबत में रहो। ऐसी जगहों पर जाने से व ऐसे लोगों से मिलने से बचना चाहिये जहाँ पर बुजुर्ग सन्तों की वाणी का पालन नहीं होता है, उन पर अमल नहीं होता है, उनका सम्मान नहीं होता है और उनकी शिक्षाओं के खिलाफ बोला जाता है। इस सन्दर्भ में, पुराने शिष्यों में प्रिय रघुनाथ प्रसाद की मिसाल दी जा सकती है। हे ईश्वर इस नश्वर व आध्यात्मिक संसार के ऊँचे शिखर उन्हें देने की कृपा करें और उन्हें अपने एक सेवक के रूप में स्वीकार करें। मैं ईश्वर से, जो कि पवित्र व सब का मालिक है, प्रार्थना करता हूँ और अपने बुजुर्ग सन्तों से कृपा चाहता हूँ कि वे हमारे इरादे नेक रक्खें और हमारी अन्तिम स्वाँस तक हमारा विश्वास, प्रेम व सेवा भाव बराबर बढ़ाते रहें क्योंकि उनके आशीर्वाद पर हमारा कल्याण निर्भर है और ऐसा आशीर्वाद देना उनके अधिकार में है।

रकीम बन्दा राधा मोहन लाल अधौलिया, गुलामुल्मगुलाम हाजीमुल फुकरा, रघुबर नगर, बंगला नं. 8/223, आर्य नगर, कानपुर 23 जनवरी, 1959

बारहवाँ अध्याय
अध्यात्मिक शिक्षा की सूफी विधि

भारत में यह आम विश्वास है कि अध्यात्म मार्ग केवल उन वृद्ध पुरुषों के लिये है जिन्होंने संसार को त्याग कर सन्यास ग्रहण कर लिया है। इस भ्रामक विश्वास का मुख्य कारण प्राचीन ग्रन्थों में वर्णित जीवन को चार भागों में बांटने वाली आश्रम व्यवस्था है। ये चार आश्रम है:- 1. बाल आश्रम 2. गृहस्थ आश्रम 3. वानप्रस्थ आश्रम 4. सन्यास आश्रम। प्रत्येक आश्रम का काल पच्चीस वर्ष का है। ऐसा कहा गया है कि 75 वर्ष की आयु में संसार छोड़कर सन्यास ग्रहण कर पर्वतों, जंगलों या धार्मिक स्थानों पर निवास करना चाहिये। इस नियम का अनुसरण करने का अर्थ है कि 75 प्रतिशत वे लोग, जो 75 वर्ष की आयु तक जीवित नहीं रह पाते हैं, सदैव के लिये अध्यात्म मार्ग से वंचित रह जायेंगे। सूफी परम्परा में सच्ची आध्यात्मिकता का अर्थ है ईश्वर की इच्छा पर अपना जीवन बिताना। राज़ी व रज़ा पर अमल करना ही वास्तविक अध्यात्म है। आत्म-साक्षात्कार के लिये जीवन को निश्चित कठोर भागों में बांटने की जरूरत नहीं है। जीवन के किसी भी भाग में किसी भी समय ईश्वर में विश्वास व उसकी मर्जी के अनुसार जीवन जीने की कला पर अमल किया जा सकता है। ईश्वर की खोज में जंगलों में जाने की आवश्यकता नहीं है। सच्चाई तो यह है कि वृद्धावस्था में शारीरिक व मानसिक रूप से व्यक्ति इतना कमजोर हो जाता है कि वह न तो एकाग्रचित्त हो पाता है और न ही सही माने में ध्यान कर सकता है। वह इतना आत्मकेन्द्रित हो जाता है कि अध्यात्म मार्ग पर चलना उसके लिये असम्भव हो जाता है। ऐसे व्यक्ति का प्रेम का दायरा भी अत्यन्त संकुचित होता है। एक अन्य धारणा भी साधकों को भ्रमित कर रही है। कुछ लोग यह प्रचार करते हैं कि अध्यात्म मार्ग पर तब तक नहीं चलना चाहिये जब तक कि सारे सांसारिक कार्य व उत्तरदायित्व पूरे न हो जायें। साधकों को ऐसे विचारों से सावधान रहना चाहिए।

सांसारिक कर्तव्यों व उत्तरदायित्वों की पूर्ति एवं शाश्वत सत्य की खोज का कार्य साथ-साथ किये जा सकते हैं। युवावस्था ही इस मार्ग पर चलने का सही समय है। ईश्वर और उसकी सृष्टि के रहस्य को समझने के लिये साधक को सतगुरु के मार्गदर्शन में धैर्य व लगन के साथ जीवन भर साधना करनी पड़ती है। प्राचीन काल में ऋषि मुनि सत्य को जानने के लिये सैकड़ों साल तक कठोर तप किया करते थे। इस मार्ग पर आगे बढ़ने के लिए दृढ़ इच्छा शक्ति, दृढ़ निश्चय, स्वस्थ हृदय व अच्छा स्वास्थ्य आवश्यक है जो कि केवल युवावस्था में ही सम्भव है।

इस सिलसिले के बुजुर्ग संतों ने सूफी शिक्षा पद्धति एवं परम्पराओं को ध्यान में रख कर तथा भगवत गीता, उपनिषदों आदि को आधार मान कर एक ऐसी अध्यात्मिक शिक्षा पद्धति एवं एक नवीन साधना की शैली विकसित की है जिसके अन्तर्गत साधक को सांसारिक सम्पदा का त्याग नहीं करना पड़ता है। साधक सांसारिक प्रलोभनों के बीच रहते हुये तथा अपने उत्तरदायित्वों को पूरा करते हुये, सतगुरु के मार्गदर्शन में हृदय की आन्तरिक पवित्रता के द्वारा आत्म साक्षात्कार करता है। जैसे-जैसे सतगुरु शाश्वत सत्य के रहस्य की पतों को एक-एक कर शिष्य के सामने खोलता जाता है, त्याग अपने आप उसके स्वभाव में आता जाता है। जबरदस्ती थोपा गया त्याग शिष्य का भला नहीं कर सकता है। सूफी शिक्षा पद्धति में शिष्य को गुरु के सामने अपना हृदय खाली कर के जाना होता है। यहाँ किताबी ज्ञान काम नहीं आता है। सारा पूर्व अर्जित ज्ञान भूलना पड़ता है। खाली हृदय में ही गुरु के प्रकाश में सच्चा ज्ञान उतरता है।

सत्य की खोज में स्त्रियों की भूमिका को इस शैली में विशेष महत्व दिया गया है। वैदिक काल में स्त्रियों का दर्जा पुरुष के समान ही माना जाता था। ऐसे उदाहरण है जहाँ कि युद्ध भूमि में भी स्त्रियाँ राजा के साथ जाती थी। कोई भी यज्ञ या धार्मिक अनुष्ठान पूरा नहीं माना जाता था जब तक कि पति पत्नी साथ-साथ न बैठे। मध्य कालीन भारत में कुछ सनातनी कट्टरपंथियों द्वारा शास्त्रों की गलत

व्याख्या से बाल विवाह, पर्दा प्रथा आदि सामाजिक बुराइयाँ पनपने लगीं तथा समाज में स्त्रियों की दशा नीचे गिरती गयी। कुछ धार्मिक उपदेशकों ने यहाँ तक कहा कि स्त्रियाँ बुराई एवं पाप की प्रतिनिधि हैं और अध्यात्मिक उन्नति में बाधक हैं। उन्हें वेदों का अध्ययन करने से भी रोका गया।

परन्तु सूफी सन्तों व इस सिलसिले के बुजुर्ग संतों ने हमेशा यह माना कि आत्म-साक्षात्कार का ज्ञान प्राप्त करने के लिये परिवार ही एक आदर्श स्थान है। ध्यान में पत्नी के साथ बैठने से अध्यात्मिक उन्नति जल्दी होती है। प्राचीन भारत में प्रायः सभी ऋषि मुनि विवाहित जीवन बिताते थे। सूफी सन्तों ने भी हमारे सामने यही आदर्श प्रस्तुत किया। विवाहित जीवन में साधक ऐसे कई गुणों को सीखता है जिनके विषय में एक सन्यासी सांसारिक अनुभव के अभाव में सोच भी नहीं सकता है।

सन्यासी प्रायः शुष्क हृदय व कठोर स्वभाव वाले होते हैं। उनमें कोमलता व दया का अभाव होता है। ईश्वर तक जाने का मार्ग प्रेम गली से होकर गुजरता है। ऐसे मानसिक पृष्ठभूमि रखने वाले सन्यासी प्रेम में अपने को डुबोकर अपने अस्तित्व को कभी मिटा नहीं सकते। एक विवाहित साधक की तुलना में सन्यासी सांसारिक प्रलोभनों में जल्दी फँस सकता है क्योंकि उसे जीवन के सुख दुख का कोई अनुभव नहीं होता है। मैंने स्वयं अपनी आँखों से देखा है कि किस प्रकार मेरी माँ व दादी साधकों व अन्य जिज्ञासुओं को अपने हाथ से पकाया हुआ भोजन प्रसन्नतापूर्वक परोसती थीं। वे अन्य स्त्रियों को आत्म साक्षात्कार के पाठ ग्रहण करने में सहायता भी करती थीं। परिवार में स्त्रियों की उपस्थिति एवं उनके सत्संग में भाग लेने से वातावरण में पवित्रता आती है जो कि आगे चलकर अध्यात्मिक विकास में सहायक होती है।

बहुत कम लोग ही अध्यात्मिक शिक्षा व जीवन जीने के ढंग के बीच गहरे सम्बन्ध को समझ सकते हैं। सूफी संतों के अनुसार इस मार्ग में उन्नति इस बात

पर निर्भर है कि आप कैसे व किस सीमा तक अपने जीवन को पवित्र बना सकते हैं। आपकी मानसिकता व सोचने की प्रक्रिया आपके दैनिक जीवन बिताने के ढंग पर निर्भर करती है। गलत तरीके से कमाई गई दौलत केवल सांसारिकता को ही बढ़ावा देगी। यह आपके अन्दर विरक्ति व त्याग की भावना नहीं पैदा कर सकती है।

अपराधी प्रवृत्ति वाले व्यक्ति भी यदि किसी प्रबुद्ध सदगुरु के सम्पर्क में आते हैं तो धीरे-धीरे उनकी दया से वे भी अच्छाई की ओर मुड़ने लगती है।

साधक प्रायः भोजन व खाने पीने सम्बन्धी आदतों की ओर ध्यान नहीं देते हैं। सूफी शिक्षा पद्धति में इनका बड़ा महत्व है। भोजन नेक कमाई का हो, सादा हो व पवित्र हाथों से साफ सुथरे वातावरण में पकाया गया हो। भारी, मसालेदार व तैलीय भोजन आलस्य पैदा करता है जो कि ध्यान की प्रक्रिया में बाधक है।

सूफी शिक्षा पद्धति में ध्यान का महत्व होते हुये भी इसे साध्य नहीं माना गया है। यह केवल एक उद्देश्य की पूर्ति का साधन मात्र है। यह अन्त नहीं है। बहुत से साधक ध्यान को बहुत अधिक महत्व देते हुये इसे धीरे-धीरे कर्मकांड का एक भाग बना लेते है और इससे वांछित लाभ नहीं मिल पाता है। वे ध्यान के ही चमत्कारों में खो जाते हैं और शाश्वत सत्य को जानने के लक्ष्य को भूल जाते हैं। प्रारम्भिक अवस्था में ध्यान साधक के विचारों को केवल एक वस्तु अर्थात गुरु की चैतन्य शक्ल पर केन्द्रित करने में सहायता करता है। अनेक से एक पर लाता है। साधना की ऊँची अवस्थाओं में ध्यान पीछे छूट जाता है क्योंकि अब साधक चौबीसों घंटे गुरु की याद और उनके प्रेम में डूबा हुआ सदैव उनके सम्पर्क में बना रहता है।

सूफियों की साधना शैली में सतगुरु (पीर-कामिल) का स्थान सबसे ऊपर है। उसके महत्व को कभी कम नहीं आँका जा सकता है। यहाँ आडम्बर व कर्मकांड का कोई महत्व नहीं है। समर्थ गुरु ही वास्तविक यथार्थ (Reality) है। साधक का प्रथम लक्ष्य है फना-फिल-शेख अर्थात गुरु में लय होना। इसके बाद

फना-फिल-अल्लाह अर्थात् ईश्वर में लय होने की बात आती है। दोनों स्थितियाँ प्रायः साथ ही साथ घटती हैं। ऊँची स्थितियाँ हासिल करने के लिये शिष्य को बराबर गुरु की सोहबत में बने रहना चाहिये। यदि यह सम्भव न हो सके तो समय-समय पर गुरु से अवश्य मिलता जुलता रहे और अपने अध्यात्मिक हालात बताता रहे। यदि यह भी मुमकिन न हो तो पत्र-व्यवहार द्वारा सम्पर्क अवश्य स्थापित करें। जिस क्षण शिष्य गुरु को पत्र लिखता है या उनकी याद करता है उसी क्षण उसका सम्पर्क गुरु से स्वतः स्थापित हो जाता है। आन्तरिक पवित्रता के द्वारा सम्पूर्ण व्यक्तित्व का परिवर्तन (Transformation) ही अध्यात्मिक शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य है। ऊँचे दर्जे का साधक, देखने में सांसारिक जीवन व्यतीत करता हुआ मालूम पड़ता है परन्तु आन्तरिक हृदय में उसकी बैठक परमात्मा के साथ रहती है। ऐसे व्यक्ति को लोग एक नेक व अच्छे इन्सान के रूप में देखते हैं। परन्तु वे यह नहीं जानते हैं कि उसके अन्दर अपार अध्यात्मिक शक्ति का भंडार है।

सूफी संतों ने सदैव अपने शिष्यों के सामने सीमित साधन होते हुये भी सादा जीवन बिताने का आदर्श रक्खा है। उनकी कथनी व करनी में कभी कोई अन्तर नहीं रहा है। उनका व्यवहार उनके सिद्धान्तों के अनुसार ही रहा। मेरे बाबा चच्चा जी महाराज, उनके बड़े भाई लाला जी साहब (महात्मा रामचन्द्र जी) एवं मेरे पूज्य पिता जी महात्मा राधामोहन लाल जी सब उसी साँचे में ढ़ले थे और उनका जीवन प्रायः मुफलिसी में ही बीता। बगैर किसी गिला-शिकवा के इन सभी का जीवन ईश्वर की मर्जी को समर्पित था। सूफियों की शिक्षा प्रणाली में शिष्य केवल शाश्वत सत्य या आत्म-साक्षात्कार की ही बात सोचता है। संसार के अन्य सब सुख तुच्छ हैं। शिष्य इनकी ओर निगाह भी नहीं डालता है। उसका लक्ष्य तो केवल एक ही है - अपने आप को जानना। सदगुरु के पास सांसारिक इच्छाएँ लेकर नहीं जाना चाहिये। इस पद्धति की एक विशेषता है कि गुरु शिष्य की इच्छाओं को तब पूर्ण करता है जब उसके अन्दर इन इच्छाओं को भोगने की इच्छा नहीं रह जाती है। उसका सारा ध्यान तो केवल अपने लक्ष्य की ओर ही रहता है।

अध्यात्मिक विकास के प्रत्येक चरण को स्वयं अनुभव करके ही आध्यात्मिकता के विज्ञान को समझा जा सकता है। आत्म साक्षात्कार तक केवल सुनी सुनाई बातों से, धार्मिक ग्रन्थों के पठन-पाठन से या संतों के प्रवचनों को सुन कर नहीं पहुंचा जा सकता है। इस पद्धति में गुरु अपने शिष्यों को इस प्रकार तैयार करता है कि वे ऊपर से नीचे तक चेतना के विकास के प्रत्येक स्तर का स्वयं अनुभव करें। जो कुछ धर्म ग्रन्थों में लिखा है वह उन ऋषि मुनियों का अनुभव है जिसे उन्होंने कठिन साधना व तपस्या के द्वारा जाना है। यह उनका अनुभव है तुम्हारा नहीं। इसलिये इन ग्रन्थों का ज्ञान तुम्हारी समझ के बाहर है। यह ज्ञान तुम तभी समझ पाओगे जब तुम भी उन्हीं अनुभवों से स्वयँ गुजरो।

नये साधकों को कुछ बातों से सावधान रहना चाहिये। कभी-कभी वे जीवन मृत्यु सम्बन्धी प्रश्न, पुनर्जन्म के विषय में जिज्ञासा, मृत्यु के बाद का जीवन या आत्मा परमात्मा के सम्बन्धों के विषय में अनावश्यक प्रश्न पूछ कर अपने को भ्रमित करते है। इस ऊहापोह में उनकी आगे की प्रगति रुक जाती है। गुरु द्वारा दिये गये उत्तर या धर्म ग्रन्थों में इन विषयों की चर्चा से वे सन्तुष्ट नहीं हो पाते हैं क्योंकि अभी वे अध्यात्म विद्या के प्राइमरी क्लास के ही विद्यार्थी हैं। इन प्रश्नों के उत्तर के लिये वे जीवन भर एक गुरु से दूसरे गुरु तक भागते रहते हैं। कक्षा एक का विद्यार्थी, मनुष्य का चन्द्रमा पर उतरना, हवाई जहाज के उड़ने का रहस्य या राकेट टेकनोलोजी की जटिलता को कभी नहीं समझ सकता है। परन्तु जब वही विद्यार्थी एम०एस०सी० पास कर लेता है तो यही चीज़ें उसे आसान, सरल व स्वाभाविक मालूम पड़ने लगती हैं। अपने आप उसकी सारी शंकाओं का समाधान हो जाता है। उसके लिये कुछ भी रहस्य नहीं रह जाता है। इसी प्रकार अध्यात्म विद्या के क्षेत्र में जब शिष्य एक समर्थ गुरु (पीर-कामिल) के मार्ग निर्देशन में एक-एक कदम आगे बढ़ता जाता है तो अन्त में उसकी सारी जिज्ञासाएं ढ़ह जाती हैं और कुछ भी रहस्य नहीं रह जाता है।

मेरे पूज्य पिताजी महात्मा राधामोहन लाल जी के अनुसार अध्यात्म विद्या के क्षेत्र में विस्मरण (भूल जाना, Forgetfulness) एक ऐसा गुण है जिसे प्रत्येक शिष्य को अपनाना चाहिये। मनुष्य का सारा जीवन भूतकाल की बातें याद करके या भविष्य के लिये काल्पनिक योजनाएँ बनाने में ही बीत जाता है। इस बीच हम वर्तमान की ओर ध्यान नहीं देते हैं। हमें मृत्यु के बाद के जीवन की अधिक चिन्ता है, वर्तमान की नहीं। इस प्रकार हमारा जीवन और दुखमय होता जाता है। बीते हुए समय को भूल जाओ और भविष्य के विषय में न सोचो। वर्तमान क्षण जीवन का वह भाग है जिसे हम देख सकते हैं, अनुभव व व्याख्या कर सकते हैं।

इस अध्यात्मिक यात्रा में अन्तिम सत्य तक पहुंचने से पहले, साधक को जीवन के कई अन्य सत्यों का सामना करना पड़ेगा। जीवन का प्रथम सत्य है कि तुम्हारा जीवन चिन्ताओं से भरा हुआ व तनाव ग्रस्त है। तुम्हारे मन को एक क्षण के लिये भी चैन नहीं है। वह सदैव बेचैन व अशान्त ही रहता है। धन, दौलत, समृद्धि, नाम व ख्याति के होते हुये भी अन्दर से तुम एक कमजोर व्यक्ति हो। एक अज्ञात असुरक्षा की भावना व मृत्यु का भय तुम्हें जीवन भर सताता रहता है। तमाम सांसारिक इच्छाओं को पूरा होने के बाद भी तुम अतृप्त ही रहते हो। हमारा पहला कर्त्तव्य है कि जैसे भी हो मन को शान्त करें। यदि मन एक जगह ठहर कर शान्त हो जाये तो आगे की यात्रा बहुत आसान है।

जीवन का दूसरा सत्य है कि इस सृष्टि में सब कुछ परिवर्तनशील व नाशवान है। कुछ भी यहाँ पर स्थायी नहीं है। तुम्हारे नाते-रिश्ते झूठे व स्वार्थ पर आधारित हैं। तुम एक मायावी संसार में जी रहे हो। जिसे तुम अपना कहते हो, वह भी अंत-समय में तुम्हारा साथ छोड़ देगा और तुम्हें खाली हाथ अकेले ही इस संसार से विदा होना पड़ेगा। इसलिये समय व्यर्थ न गंवाओं, एक ऐसे समर्थ गुरु की तलाश करो जो तुम्हारे मन को शान्त कर तुम्हारा हृदय परिवर्तन कर सके और तुम्हें सत्य व माया के अन्तर को समझा सके।

हृदय में परमात्मा के लिये प्रेम व भक्ति का दीपक जलाओ। सब कुछ गौण है। अंत में उसके सिवा कुछ भी नहीं रह जायेगा।

साधक केवल अपने ही प्रयत्नों से अध्यात्मिक यात्रा पूरी नहीं कर सकता है। उस परम चैतन्य सत्ता के ज्ञान में निहित आनन्द को प्राप्त करने के लिये निज कृपा, ईश कृपा व गुरु कृपा तीनों की ही आवश्यकता होती है। इस मार्ग की ऊँची अवस्थाओं को प्राप्त करने के लिये गुरु के प्रति असीम प्रेम अपने हृदय में जाग्रत करना होगा। गुरु ही मनुष्य व ईश्वर के बीच की महत्वपूर्ण कड़ी है। सूफियों की शिक्षा पद्धति प्रेम पर आधारित है। साधना की प्रारम्भिक अवस्थाओं में शिष्य गुरु को अपना मित्र या एक असाधारण गुण सम्पन्न व्यक्ति के रूप में देखता है। अन्त में एक ऐसी स्थिति आती है जहां गुरु व ईश्वर का भेद मिट जाता है।

अध्यात्म की दुनिया में प्रवेश के लिये पहली शर्त है गुरु में पूर्ण श्रद्धा व विश्वास। आत्म साक्षात्कार के मार्ग में 'अगर', 'लेकिन' व 'जल्दबाजी' का कोई स्थान नहीं है। एक ही समय में साधक दो चीज़ें एक साथ नहीं पा सकता है - संसार का भौतिक सुख व समृद्धि और शाश्वत आनन्द। मेरे पूज्य पिता जी महात्मा राधामोहन लाल जी, शिष्यों के लिये सख्त अनुशासन प्रिय व कठोर परिश्रम करवाने वाले व्यक्ति थे। वे विभिन्न कोणों से शिष्य के साहस, सहनशीलता व प्रेम की गहराई की परीक्षा लेते थे। वे अपनी अध्यात्मिक शक्ति उन लोगों पर बर्बाद करना पसंद नहीं करते थे जो भौतिक सुखों के लिये उनका आशीर्वाद चाहते थे। उनके कुछ ही शिष्य, जिन में ईश्वर में लय होने की गहरी इच्छा थी, उनका आशीर्वाद व तवज्जोह (Spiritual Attention) पाने में सफल हो सके थे। उन में से एक विदेशी महिला इरीना ट्वीडी (Irina Tweedie) थी जिन्होंने अपने अध्यात्मिक अनुभवों का वर्णन (The Daughter of Fire) नामक पुस्तक में किया है।

सच्चा गुरु वही होता है जो शिष्य को अपने ही रूप में ढ़ालने की क्षमता रखता हो। यह शक्ति केवल ऊँचे दर्जे के सन्तों में ही होती है। यदि किसी में यह क्षमता नहीं है तो वह वास्तविक अर्थ में गुरु कहलाने का हकदार नहीं है। वह उपदेशक या प्रवचन कर्त्ता की श्रेणी में आता है। जब कोई समर्थ गुरु किसी शिष्य का उत्तरदायित्व लेता है तो उसे पूर्णता तक पहुँचाये बिना उसे चैन नहीं मिलेगा।

गुरु की शारीरिक मृत्यु के बाद भी शिष्य से उनका सम्बन्ध नहीं टूटता है। भौतिक शरीर की मृत्यु के बाद गुरु सांसारिक बन्धनों से आजाद हो जाते हैं क्योंकि अब उनकी आत्मा परम चैतन्य सत्ता का भाग बन जाती है और पहले से कहीं ज्यादा प्रभावशाली ढंग से वह शिष्य की मदद कर सकते हैं। शिष्य इस आध्यात्मिक रहस्य को नहीं समझ पाते और प्रायः गुरु की मृत्यु के बाद रुचि में कमी व ध्यान में कम आनन्द मिलने की शिकायत करते हैं। गुरु एक शक्ति है न कि शरीर।

इस मार्ग के साधकों को साधना के दौरान प्रायः कुछ चमत्कारिक शक्तियाँ मिलती है जैसे दूसरे के मन के विचारों को जान लेना, आँख बन्द करने पर भी दिखलायी पड़ना, मुँह से निकली हुई बात का सच हो जाना आदि। कुछ साधक इन चमत्कारों के चक्कर में पड़ कर अपने असली लक्ष्य से भटक जाते हैं। बहुत से ऐसे साधक, जो उच्च कोटि के गुरुओं के मार्ग निर्देशन में नहीं है, इन मामूली उपलब्धियों को ही अध्यात्म यात्रा का अंत मान लेते हैं। सूफी शैली की विशेषता है कि गुरु एक तरह से शिष्य की आँख पर पट्टी बांध कर ऐसे खतरनाक रास्तों से निकाल कर आगे बढ़ा देते हैं। एक सच्चे शिष्य को हमेशा अपने पास एक डायरी रखनी चाहिये जिसमें उसे अपने अध्यात्मिक अनुभव व गुरु के उपदेशों को लिख लेना चाहिए।

इस मार्ग की शिक्षा में शिष्य द्वारा की जाने वाली पूजा व सत्संग पूरी तरह से आन्तरिक है। वाह्य पूजा (External Forms of Worship) जैसे जोर-जोर से

भजन कीर्तन गाना, आरती, मंदिरों में देवी देवताओं की पूजा या धार्मिक ग्रन्थों का पढ़ना आदि से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। बाह्य पूजा तुम्हें अध्यात्म के ऊँचे शिखरों तक नहीं ले जा सकती है। अधिक से अधिक इसके द्वारा केवल अन्नमय कोश ही पार किया जा सकता है। आत्मा पर चढ़े अन्य आवरणों को नहीं भेदा जा सकता है। विभिन्न प्रकार के धार्मिक ग्रन्थों के पठन-पाठन में निपुण एक बुद्धि जीवी को दैवी आनन्द का अनुभव एक कठिन कार्य लग सकता है क्योंकि उसका मस्तिष्क पूर्वाग्रहों से भरा हुआ है जिन्हें निकालना बहुत मुश्किल है। इसके अतिरिक्त यह सांसारिक ज्ञान उसके अन्दर एक अहँ (Ego) का भाव पैदा करता है जो उसे गुरु में लय नहीं होने देता है।

सूफी सन्तों की पारम्परिक शिक्षा प्रणाली में इस मार्ग पर चलने के लिये सबसे पहले शिष्य को गुरु के माध्यम से जज़्ब (ईश्वर प्रेम) पैदा करना चाहिये। आन्तरिक हृदय में ईश्वर प्रेम की आग ही शिष्य के सांसारिक सम्बन्ध व इच्छाओं को नष्ट करेगी। हृदय की पवित्रता (तस्फ़िया क़ल्ब) के लिये जमीन तभी तैयार होती है जब सांसारिक इच्छायें नष्ट हो जायें। एक पवित्र हृदय में ही ईश्वरीय ज्ञान (सलूक God's Awareness) उतरता है। मेरे पूज्य पिता जी महात्मा राधामोहन लाल जी तो जज़्ब (ईश्वर प्रेम) व सलूक (ईश्वरीय ज्ञान) को ही अध्यात्म मार्ग का आदि और अन्त मानते थे। केवल कुछ चुने हुए व्यक्ति ही इन दो मंज़िलों तक पहुंच पाते हैं। इसके लिये सतगुरु (मुरशिद-ए-कामिल) के प्रति पूर्ण समर्पण निहायत जरूरी है।

इस मार्ग के साधक के जीवन में बैत होना (गुरु से दीक्षा लेना) ही सबसे महत्वपूर्ण घटना है। यही गुरु व शिष्य के बीच में अध्यात्मिक सम्बन्ध स्थापित करता है। बगैर सतगुरु (मुरशिद-ए-कामिल) के शिष्य इस मार्ग के ख़तरों से अपने आपको नहीं बचा सकता है। सतगुरु के मार्ग निर्देशन व उनके कृपा से ही शिष्य बिना कठोर परिश्रम के ऊँची स्थितियों तक पहुंच जाता है। सतगुरु की उपस्थित ही शिष्य के हृदय में ईश्वर प्रेम पैदा करता है। यह अत्यन्त आवश्यक है कि सतगुरु

ने स्वयँ किसी समर्थ गुरु से शिक्षा ग्रहण की हो व शिष्य की आन्तरिक स्थिति का पता लगाने की क्षमता रखता हो।

आत्म साक्षात्कार के लिये सूफी बुजुर्गों ने तीन तरीकों पर जोर दिया है।

1. जिक्र-ए-ख़फी - ईश्वर का लगातार चिन्तन।
2. राब्ता-बा-शेख - सतगुरु में पूर्ण विश्वास व श्रद्धा
3. सोहबत-ए-मुरशिद-ए-कामिल - सतगुरु की नजदीकी व उनका साथ

सतगुरु में पूर्ण श्रद्धा व विश्वास और उनकी नजदीकी से शिष्य बड़ी आसानी से एक अध्यात्मिक स्थिति से दूसरी अध्यात्मिक स्थिति तक आगे बढ़ता जाता है। यही आगे चलकर पूर्ण समर्पण में सहायक होता है। माया द्वारा बनायी गयी रुकावटें आसानी से दूर हो जाती हैं और शिष्य अंत में गुरु के व्यक्तित्व में लय होने की स्थिति तक पहुंच जाता है। अध्यात्म मार्ग की सबसे ऊँची स्थिति फना-फिल-लाह (ईश्वर में लय होना) का दरवाजा भी इसी से खुलता है।

साधना की प्रक्रिया में, यदि किसी भी समय नफ़्स (अहँ) के कारण गुरु के प्रति शिष्य के विश्वास या प्रेम में कमी आ जाती है तो शिष्य की रूहानी दौलत नष्ट हो जाती है। इस मार्ग के ख़तरों व बाधाओं के प्रति साधक को सदैव सावधान रहना चाहिये। केवल चैतन्य (जीवित) सतगुरु ही अध्यात्मिक ज्ञान दे सकता है। यह विद्या संतों के प्रवचनों या मज़ारों व समाधियों के दर्शन से नहीं प्राप्त की जा सकती। ज्ञान देने का सूफी तरीका सीने-ब-सीने का है। हृदय से हृदय को शिक्षा दी जाती है। जब शिष्य ऊँची स्थितियों पर पहुंचता है तो उसका नफ़्स (अहँ) उसे गुरु से भी ज्यादा योग्य बताने लगता है। ऐसी स्थिति में पतन निश्चित है इसलिये शिष्य को हर कदम पर सावधानी बरतनी चाहिये व आत्म निरीक्षण करते रहना चाहिये।

हमारे बुजुर्ग संतों (फतेहगढ़ के महात्मा रामचन्द्र जी महाराज - लाला जी साहब व महात्मा रघुबर दयाल जी महाराज - चच्चा जी साहब) द्वारा प्रतिपादित

योग की नवीन साधना शैली व परम्परागत प्राचीन साधना पद्धति में अन्तर है। प्राचीन शैली पतंजलि के अष्टांग योग पर आधारित है जिसके मुख्य अंग है - यम, नियम, आसन, प्राणायाम, धारणा, प्रत्याहार, ध्यान और समाधि। आधुनिक जीवन शैली व वातावरण में यह पद्धति अपनी सार्थकता कुछ सीमा तक खो बैठी है। प्राचीन काल की तुलना में आज के मनुष्य के पास न तो अच्छा स्वास्थ्य है, न शक्ति और न ही कठोर अनुशासन की भावना। बुजुर्ग संतों ने वर्तमान युग के वातावरण को ध्यान में रखकर कुछ परिवर्तन किये। परन्तु प्राचीन पद्धति के मौलिक नियमों व भावना को नहीं छुआ। अष्टांग योग के यम, नियम, आसन और प्राणायाम पर जोर नहीं दिया। जब चित्त एकाग्र हो जाता है तो ये चारों अंग अपने आप में बिना किसी कठोर मेहनत के ठीक हो जाते हैं। हमारी साधना मनोमय कोश से प्रारम्भ होती है। अन्नमय व प्राणमय कोश साधने में साधक का समय नहीं बरबाद किया जाता है। पूज्य पिता जी महात्मा राधामोहन लाल जी कहा करते थे कि प्राचीन पद्धति में प्रगति बड़ी धीमी है जब कि हमारी शैली में प्रेम की प्रधानता है। यह मार्ग त्याग और समर्पण का है।

ध्यान व कठोर अनुशासन का उतना महत्व नहीं है। केवल प्रेम और गुरु कृपा ही शिष्य को पूर्ण कर देगी।

सूफियों की प्रेम सम्बन्धी धारणा को समझाते हुए उन्होंने कहा था कि प्रारम्भिक दौर में सांसारिक लगाव के कारण शिष्य में गुरु के प्रति प्रेम अपने निज के प्रयत्नों से नहीं हो पाता है। समर्थ गुरु अपनी अध्यात्मिक शक्ति से उसके हृदय में प्रेम पैदा करता है। आगे यह शिष्य का कर्त्तव्य है गुरु द्वारा उसके हृदय में डाले गये प्रेम के इस बीज का विस्तार करें। प्रेम के प्रभाव से ही उसे निरन्तर गुरु की याद आती रहती है। प्रेम की यह अग्नि ही शिष्य को त्याग का मार्ग दिखलाती है। प्रेम की गहराई में जा कर ही वह अपने वजूद अस्तित्व व अहँ को नष्ट करने में सफल हो पाता है। उसका सारा अस्तित्व ही शून्य हो जाता है और उसके स्थान

पर एक नये व्यक्तित्व का जन्म होता है, जिसकी विशेषता होती है करुणा, दया, कोमलता व विनम्रता। गुरु प्रेम ही वह शक्ति है जिसके सहारे शिष्य फना-फिल-शेख के लक्ष्य की ओर धीरे-धीरे उन्नति करता जाता है।

आत्म साक्षात्कार व परम चैतन्य सत्ता में लय होने का लक्ष्य एक ही जीवन में पूरा किया जा सकता है। यदि शिष्य गुरु के हृदय में अपनी जगह बनाने में सफल हो जाता है तो कर्म जनित यह उसका अंतिम जन्म होगा। परन्तु इस स्थिति तक पहुंचने के लिये शिष्य को अपने पूर्व जन्मों के सारे संस्कारों को भोग कर नष्ट करना होगा। या तो शिष्य अपने दैनिक जीवन में संस्कारों को भोग कर नष्ट करता है या गुरु दया कर उसके संस्कारों को स्वप्न में भोग करा कर नष्ट करते हैं। स्वप्न में एक क्षण का भोगा गया दुख वास्तविक जीवन के तीन साल के दुखों के बराबर होता है। सतगुरु भोग की इस प्रक्रिया को जल्दी करा देता है। जब तक कर्म व संस्कारों का भोग पूरा नहीं होता है, शिष्य को बार-बार जन्म लेना पड़ेगा। चेतना के उच्च स्तरों पर एक ऐसी स्थिति आती है जहाँ पूरी तरह विचार शून्यता हो जाती है। मस्तिष्क पूरी तरह से शान्त हो जाता है। संकल्प-विकल्प समाप्त हो जाते हैं। अब नये संस्कार नहीं बनते हैं। उसकी अपनी कोई इच्छा या विचार नहीं होता। वह केवल परमात्मा की इच्छा पर ही जीता है।

सूफी पद्धति में प्रार्थना का अपना अलग महत्व है। सूफी सन्त सदैव प्रार्थना में ही लीन रहते हैं। चिल्लाकर कही गयी प्रार्थना का कोई लाभ नहीं होता है। प्रार्थना चुपचाप हृदय से की जानी चाहिए। प्रार्थना का अर्थ ईश्वर से तादात्म्य स्थापित करना है। यदि प्रार्थना को तुम्हारे हृदय ने सुन लिया है तो समझो ईश्वर ने भी सुन लिया। सदैव परमात्मा को सुख व दुख में समान रूप से शुक्रिया अदा करो। जीवन में झेले गये दुख व मुसीबतें ही हृदय को पवित्र बनाने में सहायक होती हैं।

कभी-कभी ध्यान के समय पिछले किये गये पाप या दुष्कर्म हमारी आँखों के सामने आते रहते हैं। इससे आगे की प्रगति रुक जाती है। शिष्य के मन में यह भाव

बैठ जाता है कि वह इस मार्ग पर चलने के लिये योग्य नहीं है। ऐसी स्थिति से बचने के लिये शिष्य को बिना किसी हिचक के गुरु के सामने अपने किये गये पापों को स्वीकार कर लेना चाहिए। ऐसा करने से वह इनके बन्धन से मुक्त हो जाता है। उसकी अपराध भावना समाप्त हो जाती है। अपने पापों को स्वीकार करने की भावना हृदय से होनी चाहिये। हृदय पर पापों के बोझ की भावना से शिष्य अपने अन्तरात्मा की आवाज के अनुसार कभी कार्य नहीं कर सकता है जो कि अध्यात्मिक शिक्षा का उद्देश्य है।

हमारे प्राचीन ग्रन्थों में आत्मा के प्रकाश को ढ़कने वाले पंचकोशों का जिक्र आया है। आनन्दमय कोश वह पहला घेरा है जिसने आत्मा के दैवी प्रकाश को मद्धिम किया है। विज्ञानमय कोश ने इस प्रकाश को कुछ और धुंधला कर दिया है। मनोमय कोश, प्राणमय कोश और अंत में अन्नमय कोश ने उस प्रकाश को पूरी तरह से ढ़क कर छिपा दिया है। आत्मा के प्रकाश को फिर से पाने के लिये साधक नीचे से ऊपर की ओर चढ़ाई करते हुये एक-एक कर इन कोशों को पार कर आत्मा के दैवी प्रकाश को फिर पा लेता है। ये सारे कोश माया के ही अन्तर्गत आते हैं। अंतिम तीन कोशों को पार करने पर शिष्य को बहुत सावधान रहना पड़ता है। माया व अहँ के प्रभाव में आकर वह विज्ञानमय व आनन्दमय कोशों पर ही ठहर जाना चाहता है। इन स्थानों पर पहुंच कर बहुत से साधक भटक जाते हैं। यहाँ पर अहँ बहुत ही सूक्ष्म रूप से विद्यमान रहता है। यहीं पर पहुंचा हुआ साधक ज्ञान व आनन्द को त्याग कर आगे नहीं बढ़ना चाहता है। केवल कुछ विरले शिष्य ही इस स्थिति से गुरु कृपा की बदौलत बाहर निकल पाते हैं। अन्य सब विज्ञानमय व आनन्दमय कोशों की उपलब्धियों का आनन्द लेने व उनको बनाये रखने में ही अपनी अध्यात्मिक शक्ति बरबाद करते रहते हैं।

सूफियों का रूहानी तालीम देने का तरीका एक अद्भुत शिक्षा प्रणाली है। शिष्यों को चाहिये कि अपनी अध्यात्मिक यात्रा के दौरान या समाधि के द्वारा अर्जित

अध्यात्मिक शक्तियाँ सदैव गुरु के चरणों पर समर्पित करते रहें। यदि शिष्य सचमुच शाश्वत सत्य को जानने की इच्छा रखता है तो उसे अपने पास कुछ भी नहीं रखना चाहिए।

सूफी सन्तों के अनुसार अहँ का पूरी तरह नष्ट होना ही वास्तविक अध्यात्मिक जीवन है। शिष्य व भक्त में अन्तर है। शिष्य अध्यात्मिक ज्ञान की खोज में रहता है जबकि भक्त की अपनी कोई इच्छा होती ही नहीं। वह तो अपने अस्तित्व को मिटा कर केवल अपने प्रेमास्पद गुरु अर्थात् ईश्वर के प्रेम में डूबा रहता है। प्रेम के अतिरिक्त उसका अपना कुछ भी नहीं बचता है। वह मोक्ष की भी कामना नहीं रखता है। उसकी अपनी कोई इच्छा नहीं होती है। वह गुरुमुख होकर केवल गुरु की इच्छा पर ही जीवन बिताता है। इस प्रकार उसका अहँ भाव पूरी तरह नष्ट हो जाता है।

सूफी पद्धति के अनुसार गुरु शिष्य को अपने पास नहीं रखता है बल्कि अपने सिलसिले के अन्य गुरुओं को सौंप देता है चाहे वे अब इस संसार में न हों। प्रारम्भ में शिष्य गुरु के गुरु (मृत आत्मा) से अपना सम्बन्ध नहीं बना पाता है। अहँ भाव के नष्ट होने पर गुरु उसे अपने जैसा बनाकर अपनी अध्यात्मिक शक्तियाँ उसे सौंप देता है। अब उसमें सिलसिले के समर्थ गुरुओं की आत्माओं से सम्बन्ध स्थापित करने की क्षमता आ जाती है। इस प्रकार धीरे-धीरे अन्त में वह अपने को शाश्वत चेतना अंतिम सत्य के सामने खड़ा पाता है।

सूफी संत अध्यात्मिक विकास में दुख व मुसीबतों की अहम भूमिका को स्वीकार करते हैं। शिष्य को अपने आप यह समझना मुश्किल होता है कि उसे हर वस्तु का त्याग करना है। वह सांसारिक प्रलोभनों में इतना अधिक फंसा होता है कि वह अपने आप कुछ त्याग नहीं कर सकता है। सतगुरु के हृदय में स्थान पाने के लिए सब कुछ छोड़ना पड़ेगा। यहाँ तक कि अपना आत्म-सम्मान भी खोना पड़ेगा। दुखों की बदौलत ही साधक को संसार का मायावी स्वरूप व भौतिक पदार्थों की

नश्वरता समझ में आती है। दुख ही उसे यह सोचने को विवश कर देते हैं कि वह कौन है, कहां से आया है और उसके जीवन का लक्ष्य क्या है? जब सृष्टि का रहस्य उसकी समझ में आ जाता है तो उसका मन शान्त हो जाता है, गुरु में श्रद्धा व विश्वास और मजबूत हो जाते हैं व इस मार्ग में उसकी प्रगति सुनिश्चित हो जाती है। शिष्य को कभी भी निराश या हतोत्साहित नहीं होना चाहिये। सतगुरु हमेशा उसके साथ रहते हैं, यद्यपि प्रत्यक्ष में उसे ऐसा आभास नहीं होता है। गुरु उसे उसकी प्रगति के विषय में कभी नहीं बतलाते हैं। गुरु केवल उन्नति की गति को तेज कर देते हैं। इस मार्ग पर चलने के लिये उसे स्वयं प्रयत्न करना पड़ता है। उसे आत्म निर्भर होना चाहिये। सूफी शैली दूसरे पर पूरी तरह निर्भर (Dependent) होना नहीं सिखाती है। शिष्य चाहे सैकड़ों मील दूर हो, वह हमेशा गुरु की नजर में ही रहता है। जिस क्षण गुरु ने शिष्य को अपना लिया, उसकी अध्यात्मिक शिक्षा शुरु हो जाती है। शिष्य की पृष्ठभूमि, जिस वातावरण में उसका पालन पोषण हुआ हो, उसकी पिछली अध्यात्मिक उपलब्धियाँ यदि कोई हों, उसका चरित्र, स्वभाव व आचरण आदि का ध्यान उसे शिक्षा देते समय रक्खा जाता है। गुरु को कुछ सीमा तक कठोर व अनुशासनप्रिय होना पड़ता है क्योंकि इस मार्ग में शिष्य के लिये खतरे बहुत हैं। बाहर से गुरु शिष्य के प्रति भले ही कठोर, उपेक्षा करने वाला व क्रोधी मालूम पड़ता हो, परन्तु हृदय से वह शिष्य की भलाई ही चाहता है। मस्तिष्क को विचारों से मुक्त करने के लिये सोचने की शक्ति एव तार्किक प्रक्रिया को रोकना पड़ता है। मस्तिष्क को विचारों के बोझ तले नहीं दबाना चाहिये। विचार शून्य होने की प्रक्रिया में देर लगती है क्योंकि शिष्य संसार में रह कर परिवार के प्रति अपने कर्तव्यों व उत्तरदायित्वों को पूरा करता रहता है। इस प्रक्रिया में शिष्य धीरे-धीरे अपने मन व इच्छाओं को गुरु के चरणों में समर्पित करता है, अपने अहँ को नष्ट करके सतगुरु की इच्छा पर ही जीवन बिताने लगता है। उसकी अपनी कोई इच्छा नहीं रहती।

इस मार्ग में गुरु व शिष्य का सम्बन्ध अद्भुत है। अन्यों की तुलना में शिक्षा प्रणाली भी निराली व सबसे अलग है। यदि गुरु ने शिष्य को हृदय से अपना लिया है तो वे हमेशा उसके साथ (शारीरिक रूप से न सही) सहायता, मार्ग निर्देशन व मार्ग के ख़तरों से बचाने के लिये रहेंगे। उन्हें उसे अपने जैसा ही बनाना है। शिष्य को उनकी लगातार उपस्थिति का अहसास नहीं हो पाता है। गुरु के वास्तविक कृपा पात्र शिष्य बहुत ही कम होते हैं। इस स्थिति तक पहुंचने के लिये कुछ शर्तें पूरी करनी पड़ती है। शिष्य को शाश्वत सत्य के ज्ञान की चाहत उसी प्रकार की हो जैसे एक डूबता हुआ मनुष्य सांस लेने के लिये हवा के सिवाय और कुछ नहीं चाहता है। गुरु में श्रद्धा व विश्वास के अतिरिक्त शिष्य को प्रत्येक स्तर पर, शारीरिक एवं मानसिक, पूर्ण समर्पण के लिये तैयार रहना चाहिये।

अध्यात्म विद्या में गुरु व शिष्य के बीच प्रेम का सम्बन्ध ही सबसे अहम भूमिका रखता है। शिष्य के प्रेम की गहराई ही उसे गुरु की तवज्जोह का अधिकारी बनाता है उसे गुरु एवं उनके परिवार के सभी सदस्यों के प्रति आदर व सम्मान का भाव रखना चाहिये। यह महत्वपूर्ण है कि शिष्य गुरु के सामने कैसे उठता बैठता है, कैसे बात करता है एवं दूसरों के साथ उसका व्यवहार कैसा है। इस सम्बन्ध में मेरे पूज्य पिता जी महात्मा राधामोहन लाल जी कठोर अनुशासन के मानने वाले थे। उन्होंने बिना किसी भेदभाव के अपने किसी भी शिष्य को, चाहे वह विदेशी ही क्यों न हो, अनुशासन में ढील नहीं डालने दी। उनके मापदण्डों के अनुरूप ही शिष्य को अपना आचरण व व्यवहार रखना पड़ता था।

मेरे पूज्य पिता जी का अध्यात्मिक शिक्षा देने का तरीका औरों से भिन्न था। कभी वे शिष्य की प्रशंसा करते थे, कभी उसकी गलतियों के लिये सावधान करते थे और कभी महीनों तक उसके प्रति उदासीन रहते थे। इस प्रकार वे शिष्य के धैर्य, साहस व शाश्वत ज्ञान प्राप्त करने की उत्कंठ इच्छा की परीक्षा लेते थे। शिष्य के निराश व हतोत्साहित होने पर वे यह बयान कर उसके उत्साह व धैर्य को बढ़ाते थे

कि मेरे गुरु महाराज मुझे यह कह कर डाँटते थे कि तुम न कुछ समझते हो और न कुछ जानते हो। शिष्य के सामने वे उसकी तारीफ नहीं करते थे। जैसे-जैसे गुरु कृपा से शिष्य संसार के माया जाल को काटता जाता है, धीरे-धीरे अंतिम सत्य का ज्ञान प्राप्त होता जाता है। समर्थ गुरु यदि चाहे तो पल भर में शाश्वत सत्य का ज्ञान करा सकता है परन्तु शिष्य भी राजा जनक के समान होना चाहिये, जिन्हें ऋषि अष्टावक्र ने क्षण मात्र में ज्ञान करा दिया था। परन्तु राजा जनक को यह ज्ञान तभी प्राप्त हो सका था जब उन्होंने सांसारिक दौलत को त्याग दिया ऋषि को अपना मन व इच्छा शक्ति समर्पित करने के साथ-साथ उनका अहँ भाव पूरी तरह से तिरोहित हो चुका था। उन्होने अपने शिष्यों को गुरु पर अत्यधिक निर्भर न रहने को कहा। गुरु केवल अध्यात्मिक प्रक्रिया की गति को थोड़ा तेज करता है (Quickens the process) और शिष्य को अपने निज के प्रयत्नों से आगे बढ़ने के लिए भूमि तैयार करता है। गुरु शिष्य को विकास के हर चरण पर सहायता देता है। परन्तु शिष्य इससे अनभिज्ञ रहता है।

मनुष्य के मस्तिष्क की कार्य प्रणाली अध्यात्म मार्ग की सबसे बड़ी बाधा है। मस्तिष्क कभी भी शान्त नहीं बैठता है। यह हमेशा बेचैन रहता है। सोचने की प्रक्रिया नींद में भी कार्य करती रहती है। मस्तिष्क का स्वभाव है कि यह किसी चीज को बिना तर्क के स्वीकार नहीं करता है। मानसिक प्रक्रिया में श्रद्धा व विश्वास का कोई स्थान नहीं है, जब कि गुरु व शिष्य का सम्बन्ध प्रेम व विश्वास पर ही आधारित है। सदगुरु सबसे पहले मस्तिष्क के करेंट का स्विच बन्द कर देता है ताकि साधक तर्क कुतर्क में न उलझे। मस्तिष्क की बेचैनी को बन्द कर उसे शान्त करना है। उसे खाली करना पड़ता है ताकि उस जगह दैवी कृपा प्रवेश कर सके। यहाँ तक कि ऊँची स्थितियों में भी शँकायें निर्मित होती रहती हैं ओर मस्तिष्क चालाकी से इस मार्ग को छोड़ने के बहाने ढूँढ़ लेता है। यही कारण है कि समर्थ गुरु शिष्य के हृदय में प्रेम पैदा कर देता है क्योंकि वह मस्तिष्क के तर्कों को सुनना पसंद नहीं करता है। प्रेम के आकर्षण में वह आगे बढ़ता जाता है। इसीलिये सूफी

पुस्तकों के पढ़ने में विश्वास नहीं करता है क्योंकि मस्तिष्क अपनी पसंद के अनुसार उनकी गलत व्याख्या कर लेता है। पुस्तकीय ज्ञान भी एक बाधा है। सूफी गुरु पहले शिष्य से स्वयं अनुभव करने को कहते है, फिर उस अनुभव की पुष्टि के लिये ग्रन्थों को पढ़ा जा सकता है। गुरु के प्रति गहरे प्रेम का अनुभव ही हृदय में प्रकाश पैदा करता है जो अध्यात्म की दुनिया के रहस्यों को खोलता है। जब गुरु हृदय चक्र चालू करता है तो मस्तिष्क की पकड़ ढ़ीली पड़ जाती है। सूफियों ने मस्तिष्क को शैतान की छाया कहा है। यदि मस्तिष्क झुक गया, उसकी पकड़ ढ़ीली हो गयी, तो त्याग व समर्पण का मार्ग आसान हो जाता है।

पूज्य पिता जी महात्मा राधामोहन लाल जी सूफी शिक्षा पद्धति को सर्वश्रेष्ठ मानते थे। शिष्य धीरे-धीरे अपने अहँ व अस्तित्व को मिटाने (Self-effacement) की ओर बढ़ता रहता है और वह अपने को गुरु में लय करने व अंत में ईश्वर में लय करने में सफल हो जाता है। समर्थ गुरु ही यह तय करता है कि शिष्य को कैसे, कब और किस तरीके से शिक्षा दी जावे। शिष्य की क्षमताओं को ध्यान में रखकर गुरु यह निश्चित करता है कि उसे पद्धति के कठोर नियमों के आधार पर अध्यात्मिक शिक्षा दी जाये या प्रेम मार्ग से, जो कि आसान तो है परन्तु प्रारम्भ में दुख और गमों से भरा हुआ है, परन्तु इसका अंत शाश्वत आनन्द में होता है। शिक्षा की प्रक्रिया शुरु होने से पहले शिष्य को अपने पूर्व अर्जित सारे विश्वासों को छोड़ना पड़ेगा।

आत्म साक्षात्कार होने पर शिष्य का आचरण व व्यवहार कैसा हो जाता है। वह क्या देखता व सोचता है। इस मार्ग की यात्रा उसी दिन प्रारम्भ हो जाती है जिस दिन गुरु शिष्य को अपना लेता है। उसी क्षण से आन्तरिक परिवर्तन की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। समर्थ गुरु की नजदीकी व सोहबत शिष्य को एक-एक कर सांसारिक प्रलोभनों को त्यागने में सहायक सिद्ध होती है। धीरे-धीरे वह अपना मस्तिष्क, इच्छाएँ, आचरण आदि गुरु को समर्पित करता जाता है और इस प्रकार अन्त में अपने व्यक्तित्व को गुरु के व्यक्तित्व में लय करने को तैयार हो जाता है

जिसे सूफियों ने फ़ना-फिल-शेख कहा है। इस फ़नाइयत (लय) से उसका वजूद व कर्तापन की भावना समाप्त हो जाती है। उसका 'मैं' अर्थात् अहँ नष्ट हो जाता है। यहाँ पर आन्तरिक पवित्रता का कार्य पूरा हो जाता है और उसके हृदय में प्रेम व ईश्वरीय कृपा (Grace) भर जाती है कर्तापन का भाव समाप्त होते ही वह कर्मों के बन्धन से मुक्त हो जाता है। उसके किये गये कार्य अब उसके अपने नहीं होते हैं क्योंकि अब वह पूरी तरह से गुरुमुख होकर उन्हीं की इच्छा पर चलता है। पिछले किये गये कर्मों का वह स्वयं भोग करता है या गुरु उन्हें इस जीवन में नष्ट करा देता है। इस प्रकार वह आवागमन के चक्र से मुक्त हो जाता है। अब शिष्य को हर जड़ व चेतन पदार्थों में उस परम चैतन्य सत्ता की उपस्थिति का आभास होता है। उसके अन्दर ईश्वरीय गुण आ जाते हैं। सारा ब्रह्माण्ड उसे ईश्वरीय प्रकाश में डूबा मालूम पड़ता है और वह स्वयँ को भी उस दैवी प्रकाश का एक अंग समझने लगता है और हर समय उसी में डूबा रहता है। यद्यपि वह इस संसार में ही रहता है परन्तु यहाँ के सुख व दुख अब उस पर अपना कोई प्रभाव नहीं छोड़ते हैं। उसका स्वरूप अब सत, चित, आनन्द का है।

यहाँ पर भी एक खतरा है। यदि वह कहता है कि मैंने ईश्वर को पा लिया है तो वह भूल कर रहा है। वह द्वन्द्व अर्थात द्वैत को अभी छोड़ नहीं पाया है क्योंकि 'मैं' अभी भी मौजूद है। 'मैं' और 'ईश्वर' दो अलग-अलग इकाई नहीं हो सकती है। उस परम चैतन्य सत्ता को जानने के बाद 'मैं' का कोई अस्तित्व नहीं बाकी बचता है। 'मैं' 'वह' बन जाता है। इस प्रकार एक सांसारिक इच्छाओं का पुतला मनुष्य ईश्वर साक्षात्कार नहीं कर सकता है। केवल सतगुरु की कृपा से आन्तरिक पवित्रता द्वारा पूर्ण परिवर्तित मनुष्य ही आत्म साक्षात्कार का अधिकारी होता है। सूफी इस प्रक्रिया को फ़ना-फिल-लाह कहते हैं। व्यक्तिगत आत्मा उस सार्वभौम आत्मा (Cosmic Soul) में मिल जाती है। यह सारी प्रक्रिया बड़ी पीड़ादायक है क्योंकि साधक को अपना अस्तित्व ही मिटाना पड़ता है।

तेरहवाँ अध्याय
सूफी दर्शन की विशेषतायें

सूफियों की अपनी एक अलग पद्धति है। सूफ शब्द का अर्थ ऊन है जो कि मुलायम व गर्म होता है। एक सूफी सन्त अपनी सहृदयता एवं कोमलता से आसानी से पहिचाना जा सकता है, सूफी पद्धति की मुख्य विशेषता उसकी स्वतंत्रता है। सूफी कभी किसी को कोई कार्य करने को विवश नहीं करता है। वह अपनी अध्यात्मिक शक्ति के द्वारा किसी को जबरदस्ती ध्यान नहीं कराता है। ध्यान एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। शिष्य के सामने दो रास्ते हैं चुनने के लिये - ध्यान का मार्ग जो कि धीमा एवं आसान है और त्याग का मार्ग जो कि बहुत कठिन है। हर कोई त्याग के मार्ग पर नहीं चल सकता है। बहुत कम लोग ही सत्य के लिये सब कुछ त्याग सकते हैं। केवल सतगुरु ही शिष्य के अध्यात्मिक पृष्ठभूमि व वातावरण को ध्यान में रख कर यह निश्चित करता है कि उसे किस मार्ग से ले जाया जाये। जैसे एक वाद्य यंत्र से ऊँची आवाज निकालने के लिये उसको कसा जाता है (Keyed up), इसी प्रकार शिष्य को भी कसना पड़ता है ताकि वह बिना अधिक परिश्रम किये आसानी से इस मार्ग पर उन्नति करता जाये। बुजुर्ग सन्तों द्वारा कुछ परिवर्तित सूफी पद्धति को Golden Sufism या Silent Sufism कहा जाता है क्योंकि हमारी शैली में बगैर किसी संगीत, ढोल मंजीरा या धार्मिक पुस्तकों के पठन-पाठन द्वारा केवल शान्त चित्त से ध्यान कराया जाता है। इसे राजयोग भी कहा जाता है क्योंकि यह एक शाही तरीका है - शाश्वत सत्य को जानने का एक सीधा व सरल मार्ग।

सूफी संतों का विश्वास है कि साधना में आगे बढ़ने के लिये मस्तिष्क को पुस्तकों या प्रवचनों द्वारा अर्जित ज्ञान से पूरी तरह खाली करना पड़ेगा। बिना सतगुरु की कृपा के आप बौद्धिक ज्ञान से आगे नहीं जा सकते हैं। प्रारम्भिक दौर में गुरु अपनी तवज्जोह (Spiritual Attention) से शिष्य को ध्यान करने में सहायता

करता है ताकि उसकी शक्ति बहिर्मुखी होने के बजाय अन्तर्मुखी होकर हृदय में समाये। बाद को शिष्य स्वयँ करता है, ध्यान की उच्च स्थितियों में उसकी चेतना जागरूक रहती है यद्यपि उसे अचेतन अवस्थाओं से भी गुजरना पड़ता है। ध्यान में विचार-प्रक्रिया समाप्त हो जाती है और कभी-कभी कुछ समय के लिये साधक चेतना शून्य की स्थिति में भी पहुँच सकता है।

लोगों में कुंडलिनी जागरण के विषय में बहुत सी गलत धारणायें हैं। कुछ लोग कुंडलिनी को काम शक्ति से जोड़ कर बतलाते हैं जो कि बिल्कुल गलत है। यद्यपि काम शक्ति कुंडलिनी का एक भाग है। हठ योगी सबसे पहले कुंडलिनी जागरण की ही बात सोचता है। हमारे यहां की शैली में प्रथम चरण में इसके जागरण का न कोई महत्व है और न ही कोई सार्थकता। ऐसा समझा जाता है कि यह शक्ति रीढ़ की हड्डी के निचले भाग में सुषुप्तावस्था में रहती है, नीचे के चक्र खुलने पर इसका जागरण होता है। प्राचीन संतों नें अपनी कल्पना शक्ति से इसका स्वरूप एक कुंडली मारे सर्प के रूप में देखा जो कि नीचे मुँह किये हुए रीढ़ के निचले भाग में पड़ा हुआ है। हमारे यहाँ हृदय चक्र पर ध्यान कराया जाता है। हृदय चक्र ही सब चक्रों का राजा है। हृदय चक्र के खुलने पर नीचे के सारे चक्र एक-एक कर अपने आप बिना किसी प्रयत्न के खुलते जाते हैं। ऐसा होने पर शिष्य की चेतना का विस्तार होने के साथ ही उसे आनन्द व शान्ति की अनुभूति होती है। यह सब अनजाने में बिना किसी परिश्रम के हो जाता है, एक सन्यासी आज्ञा चक्र (भौहों के मध्य का बिन्दु) पर ध्यान लगाता है। यह स्थान शुष्क है। यहाँ ध्यान करने वालों में प्रेमरस का संचार नहीं हो पाता है। इस मार्ग में प्रेम ही प्रमुख है। यह प्रेम का साधन है। हृदय प्रेम का केन्द्र है, हृदय चक्र खुलने पर साधक सारे सांसारिक प्रलोभनों को भूल जाता है, उसका हृदय दैवी आनन्द से भर जाता है।

बुजुर्ग संतों नें परम्परागत सिद्धान्तों में आधुनिक वातावरण के अनुरूप बनाने के लिये बहुत मामूली परिवर्तन किया है। यह शैली शिष्य को एक ही जीवन में पूर्ण

करने की क्षमता रखती है। शर्त यह है कि अध्यात्मिक पथ प्रदर्शक समर्थ गुरु हो जो हृदय परिवर्तन करने की योग्यता रखता हो। साथ ही शिष्य ऐसा हो जिसने अपनी सहनशक्ति, साहस व गुरु के प्रति प्रेम द्वारा अपनी पात्रता सिद्ध कर ली हो। यह शैली केवल कुछ चुने गये लोगों के लिये है जो सीने-व-सीने (हृदय से हृदय को) एक चैतन्य गुरु से रूहानी सबक लेने के लिये तैयार हों। किताबों में दिये गये निर्देशों से राजयोग नहीं सीखा जा सकता है। बहुत से लोग इस शैली के शान्त ध्यान की प्रक्रिया का सही मूल्य व उपयोगिता नहीं समझ सके हैं। अज्ञानवश आज भी लोग बहिर्मुखी साधन ही पसंद करते हैं भजन, कीर्तन, आरती, अखंड पाठ आदि केवल मनोरंजन के साधन बन कर रह गये हैं। इनसे हृदय परिवर्तन सम्भव नहीं है। अध्यात्म मार्ग पर यह बहिर्मुखी साधन तुम्हें ज्यादा दूर तक नहीं ले जा सकते हैं। यह तुम्हारे व्यवहार व आचरण को बदल कर तुम्हारे मन व हृदय को शुद्ध नहीं कर सकते हैं। सूफी पद्धति में तुम्हें कठोर परिश्रम की जरूरत नहीं है। तुम्हें केवल गुरु के सामने बैठना व उनसे लगातार सम्पर्क बनाये रखना है। गुरु ही तुम्हारे लिये सब कुछ करेगा। उन्हें मालूम है कि किस प्रकार शिष्य के हृदय पर परमात्मा का नाम लिखना है। गुरु केवल शर्तें नहीं रखता है। कर्म के सिद्धान्त या पुनर्जन्म में विश्वास से कोई लेना देना नहीं है। सतगुरु तुम्हारे कर्मों व संस्कारों को नष्ट कर इसी जन्म में तुम्हें ईश्वर के द्वार पर खड़ा कर सकता है।

पूज्य पिताजी अध्यात्म मार्ग की तुलना तैराक के तैरने के ढ़ंग से करते थे। गौर से तैरने वाले को देखो कि किस प्रकार वह पानी में आगे बढ़ता है। तैराक अपने दोनों हाथों से पानी को पीछे फेंकता हुआ आगे बढ़ता जाता है। इसी प्रकार इस मार्ग पर आगे बढ़ने के लिये साधक को सांसारिक प्रलोभनों व इच्छाओं को पीछे फेंकते जाना चाहिये।

गुरु समर्पण का सूफी दर्शन में विशेष महत्व है। एक प्रश्न साधक के मन में प्रायः उठा करता है कि उसे सतगुरु को समर्पण करने की क्या जरूरत है, क्या बगैर

अपनी पहचान व व्यक्तित्व को मिटाये वह पूर्णता नहीं हासिल कर सकता है। साधक को समर्पण की आवश्यकता व उसके तौर तरीकों को अच्छी तरह समझ लेना चाहिये। बगैर समर्पण के शिष्य के अन्दर का गर्व व अहँ की भावना नहीं जा सकती है। साधना की ऊँची स्थितियों में भी यह दो बाधायें मौजूद रहती हैं।

बिना गुरु को समर्पण किये कर्तापन का भाव व मेरे तेरे की भावना कभी मिट नहीं सकती। इस मार्ग की सबसे बड़ी बाधायें यही हैं। इस स्थिति को पाने के लिये साधक को गुरुमुख बनना होगा अर्थात गुरु की इच्छानुसार चलना होगा। उनकी अपनी इच्छा नहीं रह जाती। मनमुख शिष्य सुनता तो गुरु की है पर करता अपने मन की। जिस क्षण शिष्य अपने पूरे अस्तित्व को गुरु को समर्पित करता है, उसी क्षण उसका कर्तापन का बोध, गर्व, अहँ, मेरा तेरा आदि गायब हो जायेगा और गुरु में लय होने की भूमि तैयार हो जायेगी।

समर्पण से पहले त्याग की अहम भूमिका है। भौतिक पदार्थों की इच्छा, नाम व ख्याति की इच्छा, नाते-रिश्तों की इच्छा, यहां तक कि मोक्ष की कामना भी सब माया के बन्धन है।

सूफी दर्शन में त्याग का अर्थ सब कुछ छोड़कर सन्यास लेने का नहीं है। सन्यासी संसार के सारे नाते-रिश्ते तोड़ कर जंगलों या पहाड़ों की गुफाओं में कठिन तपस्या में लीन रहते हैं। त्याग का सही अर्थ है - संसार के भौतिक पदार्थों के प्रति लगाव की भावना का न होना (Non-Attachment) साधक को संसार में लोगों के बीच में रहना चाहिये, प्रकृति द्वारा दी गयी वस्तुओं का आनन्द उठाये और अपने कर्तव्यों व उत्तरदायित्वों को ईमानदारी से पूरा करें। सब कुछ करते हुये मन सदैव ईश्वर की ओर लगा रहे। निर्लिप्त भाव से जीवन जियो क्योंकि एक दिन तुम्हें उस भंडार में फिर वापस जाना है, अपने मौलिक घर अर्थात ईश्वर के पास जाना है। यदि तुमने अपने अन्दर निर्लिप्त भाव को जागृत कर लिया है तो तुम त्याग के मार्ग पर चल पड़े हो।

सूफी दर्शन में सतगुरु को पूर्ण समर्पण देने का अर्थ है कि तुम मंजिल के करीब पहुँच चुके हो। परन्तु यह आसान कार्य नहीं है। जब हम पहली बार गुरु से मिलते हैं तो मन में उनकी शक्तियों, महानता व उनकी क्षमता के विषय में तमाम प्रकार की शँकायें उत्पन्न होती हैं। समर्पण की स्थिति लाने के लिये लगातार गुरु चिन्तन व लम्बे समय तक उनकी सोहबत की आवश्यकता है। शँकायें आसानी से जल्दी समाप्त नहीं होती हैं। लम्बे समय तक गुरु के साथ से जहाँ एक ओर शिष्य उनकी तवज्जोह का अधिकारी बनता है, वहीं दूसरी ओर वह धीरे-धीरे गुरु के ईश्वरीय गुणों को अपने में आत्मसात करने लगता है।

निरन्तर गुरु चिन्तन में लीन रहने से मस्तिष्क में बुरे विचारों के घुसने की सम्भावना समाप्त हो जाती है। मस्तिष्क में गुरु की शक्ल व उनकी याद इस क़दर भर जाती है कि बुरे विचारों के लिये जगह ही नहीं बचती है। अध्यात्म के क्षेत्र में केवल वही साधक चेतना के उच्च स्तरों तक पहुँच पाते हैं जो इन निर्देशों का ईमानदारी से पालन करते हैं। शिष्य को मन में यह ख्याल बाँधना चाहिये कि गुरु उसके शरीर में मौजूद हैं। सतगुरु ही उसके सारे कार्य कर रहे हैं। वह भोजन नहीं कर रहा है बल्कि उसकी जगह सतगुरु ही भोजन कर रहे हैं। वह नहीं चल रहा है, गुरु ही चल रहे हैं। वह नहीं बोल रहा है, सतगुरु ही बोल रहे हैं। इस प्रकार का ख्याल धीरे-धीरे गुरु में लय होने के विचार को मजबूत करेगा और शिष्य को समर्पण की स्थिति के नजदीक ले आवेगा।

गीता में कृष्ण द्वारा अर्जुन को दिये गये एक उपदेश से अधिक बेहतर तरीके से समर्पण की व्याख्या नहीं की जा सकती है। कृष्ण ने अर्जुन से कहा 'मन मना भव' तथा 'मामेकं शरणं ब्रज' अर्थात तू मेरे मन वाला हो जा और सब कुछ त्याग कर तू मेरी शरण में आ जा। सतगुरु को समर्पण वैसा ही हो जैसा राजा जनक ने ऋषि अष्टावक्र को किया था। यद्यपि राजा ने अपना सारा राज्य व खजाना ऋषि को

अर्पण कर दिया था परन्तु समर्पण तभी पूरा हुआ जब मन व हृदय भी ऋषि को समर्पित कर दिया।

नक्शबंदिया सूफी मौन में विश्वास करते हैं। हृदय का मौन व शान्ति परमात्मा के करीब लाता है। मौन में ही शाश्वत सत्य का ज्ञान होता है। इस पद्धति में आत्मा से आत्मा के द्वारा संदेश पहुँचाया जाता है। हम लोग मौन योगी माने जाते हैं। लोग अपने को पूरी तरह छिपाकर मौन में साधना करते हैं। दूसरे लोग यह नहीं जान पाते हैं कि कब और कौन सी पूजा या साधना की जा रही है। जब तक मस्तिष्क और हृदय पूरी तरह मौन नहीं हो जाते हैं तब तक उच्च स्थितियों तक पहुँचना नामुमकिन है।

एक बार मेरे पूज्य पिताजी महात्मा राधामोहन लाल जी अपने विदेशी शिष्य इरीना ट्वीडी व मिस लिलियन सिलबर्न को चेतना की उच्चतम स्थितियों के विषय में बतला रहे थे। उन्होंने कहा कि शून्य के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं (There is Nothing but Nothingness) इसका अर्थ ठीक से समझ लेना चाहिये। इसका अर्थ तब स्पष्ट होता है जब साधक अर्न्तमुखी होकर अपने हृदय के अन्तरतम भाग में झांक कर देखता है। साधक का पुराना अस्तित्व या व्यक्तित्व कहाँ शेष रह जाता है जब अध्यात्मिक यात्रा के अंत में अपने अहँ को नष्ट कर वह अपना हृदय व मस्तिष्क सतगुरु को समर्पित करता है। अब कुछ भी तो नहीं बचा। साधक पूरी तरह से शून्य (Nothingness) की स्थिति में आ गया। साधक क्या अनुभव करता है जब वह चेतना के उच्च स्तरों तक पहुँचता है। आप शून्य की स्थिति का ही अनुभव करते हैं। अंत में जब साधक अपने आपको अनन्त (Infinite) के सागर में डुबोता है तब फिर उसका सामना शून्य से होता है। साधक की स्थिति शून्य की ही हो जाती है। उसका अपना कुछ बचता ही नहीं। वह अपने अस्तित्व को पूरी तरह से मिटा कर ही परम चैतन्य सत्ता में लय होता है।

जैसे-जैसे शिष्य की चेतना का दायरा बढ़ता जाता है और वह अपने लक्ष्य अर्थात अंतिम सत्य को जानने के करीब होता है, उसे संसार की प्रत्येक वस्तु, चाहे जड़ हो या चेतन, में परमात्मा की उपस्थिति का अनुभव होने लगता है। संसार में रहते हुये भी अब वह इस संसार का आदमी नहीं रह जाता है। अहँ ब्रह्मास्मि (मैं ही ब्रह्म हूँ के स्थान पर अब वह तत्व मसि (तू ही तू है) कहने लगता है। तू ही कण-कण में मौजूद है। ऐसा पूर्ण पुरुष सदैव दैवी प्रेम के प्रकाश से घिरा रहता है जो कि उसके रोम-रोम से निकलता प्रतीत होता है। उसकी उपस्थिति दैवी आनन्द का एहसास दिलाती है। उसके संसर्ग में आने वाला व्यक्ति उसके प्रेम के प्रभाव से अछूता नहीं रह सकता है।

सूफी दर्शन को केवल दो शब्दों में व्यक्त किया जा सकता है। ये हैं प्रेम और समर्पण। समर्थ गुरु की भूमिका को अध्यात्म मार्ग में कभी कम नहीं आँकना चाहिये। बिना उसके मार्ग निर्देशन के अंतिम सत्य का साक्षात्कार असम्भव जैसा ही है। एक बार पूज्य पिता जी ने पूछा, 'आप आत्म-साक्षात्कार क्यों चाहते हैं? इसकी क्या जरूरत है?' फिर उन्होंने समझाया कि हम सब तो पहले से ही मुक्त आत्मायें हैं। हम तो ईश्वर के ही अंग हैं। परन्तु हम अपना असली स्वरूप भूल बैठे हैं। आत्मा पर चढ़े पंच कोशों के आवरण ने हमारे वास्तविक स्वरूप जन्मसिद्ध को छिपा दिया है। समर्थ गुरु की सहायता से आप अपने खोये हुये स्वरूप को फिर से पा सकते हैं। एक ही जन्म आत्म-साक्षात्कार के लिये काफी है। बस आपके अन्दर उसके लिये उत्कट इच्छा होनी चाहिये। जीवन में केवल उसे पाना ही आपका लक्ष्य होना चाहिये।

सूफी दर्शन कर्म कांड नहीं है। यहाँ पूजा के बहिर्मुखी साधनों (भजन, कीर्तन, ग्रन्थों का पाठ, मूर्ति पूजा आदि) का कोई महत्व नहीं है। इनसे न तो हृदय की पवित्रता ही आती है और न आन्तरिक परिवर्तन सम्भव है। हमारे यहाँ की शैली एक जीवन्त पद्धति (Living System) है जो धीरे-धीरे हृदय को पवित्र बनाकर एक

दिन आपको शाश्वत सत्य के सामने लाकर खड़ा कर देता है। सभी प्रकार के पूर्वाग्रहों व सांसारिक साधनों के द्वारा अर्जित ज्ञान को छोड़ना पड़ेगा। केवल सतगुरु का चिन्तन करो, उनकी शरण में जा कर अपने को उनके हाथों में सौंप दो, उन पर श्रद्धा व विश्वास करो और धीरे-धीरे तुम्हें शाश्वत ज्ञान प्राप्त होगा।

कुछ शिष्य भविष्य की काल्पनिक योजनाएँ बनाने में या पुनर्जन्म के विषय में चर्चा करने में अपनी शक्ति व समय नष्ट करते रहते हैं। वे सोचते हैं कि यदि इस जन्म में सत्य से साक्षात्कार नहीं हो सका तो अगले जन्म में होगा। कैसा मूर्खता पूर्ण विचार है। अगला जन्म किसने देखा है। केवल वर्तमान को देखो। अध्यात्म मार्ग में भूत या भविष्य के विषय में सोचना व्यर्थ है।

एक सच्चा साधक अपने को केवल एक माध्यम समझता है। वह कर्ता नहीं है। उसका प्रत्येक कार्य एक कर्तव्य है। उसका मन सदैव गुरु चिन्तन में ही रहता है न कि संसार में। वह जानता है कि बहिर्मुखी रहने से सत्य की खोज अधूरी ही रह जायेगी। इसे तो हृदय में ही अन्तर्मुखी होकर खोजना पड़ेगा। जब साधक स्वयँ में स्थित हो जाता है तो भौतिक संसार व इसके प्रलोभन उसके लिये कोई माने नहीं रखते हैं।

सूफियों के अनुसार अध्यात्म का यह एक गहरा रहस्य है कि संत चाहे कितना ही महान क्यों न हो, उसके अन्दर कुछ न कुछ कमियाँ रह जाती हैं क्योंकि शरीर का बन्धन उसके साथ है। मृत्यु में ही पूर्ण शान्ति मिल सकती है। इसीलिये कबीर साहब ने फरमाया है:-

जा मरने से जग डरे, मोहि बड़ी आनन्द।
कब मरिहौं, कब पाइहौं पूरन परमानन्द॥

सूफी दर्शन में प्रेम ही साधना का आधार है। जिसने अपने अन्दर प्रेम पा लिया, उसने ईश्वर को पा लिया। प्रेम ही ईश्वर है। जैसे आग के पास बैठने से गर्मी

मालूम पड़ती है, इसी प्रकार जिन संतों नें प्रेम के द्वारा ईश्वर के रहस्य को जान लिया है, उनके पास बैठने से कोई भी व्यक्ति खाली हाथ नहीं लौटता है। कुछ न कुछ अवश्य मिलता है। उनके रोम-रोम से प्रेम की धाराएँ निकलती रहती हैं।

सूफी संतों के अनुसार अध्यात्म मार्ग की यात्रा में हर चीज को पीछे फेंकते जाना है। नाम व ख्याति, मान-अपमान सारा सांसारिक ज्ञान, भौतिक पदार्थों व सम्बन्धों पर निर्भरता, क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष, सुख में प्रसन्न होना या दुख में दुखी होना आदि प्रत्येक वस्तु को त्यागना है। इसका अर्थ है कि इन पर विश्वास नहीं किया जा सकता है। सूफी केवल ईश्वर पर विश्वास करता है और अपने को पूरी तरह से उनके हाथों में सौंप देता है। परमात्मा की इच्छानुसार ही चलता है। तभी नये संस्कारों का निर्माण नहीं हो पाता है। त्याग का मार्ग और आसान हो जाता है यदि साधु अच्छा-बुरा, पाप-पुण्य सब कुछ गुरु के चरणों को अर्पित करता जाता है। इससे उसे अहँ को नष्ट करने में भी सहायता मिलती है।

शिष्य को इस मार्ग में की गयी अपनी उन्नति अथवा गुरु के प्रति अपनी नजदीकी के विषय में कभी चर्चा नहीं करनी चाहिये। अध्यात्मिक उन्नति के विषय में केवल गुरु ही निर्णय ले सकता है। कोई भी शिष्य गुरु के पास या दूर नहीं है। सब का लक्ष्य एक ही है। उस लक्ष्य को पाने के मार्ग व तरीके अलग-अलग हो सकते हैं। भिन्न-भिन्न स्तरों पर सभी विद्यार्थी ही हैं। ईश कृपा केवल गुरु के माध्यम से ही मिलेगी। यह जान लो कि हर शिष्य हमेशा और हर समय गुरु की नज़रों में रहता है। जब तुम्हें जरूरत होगी, गुरु की मदद अवश्य मिलेगी। कुछ लोगों का मस्तिष्क अज्ञान के बादलों से इतना अधिक ढ़का रहता है या संसार के माया जाल से ही संतुष्ट रहते हैं कि उन्हें अपने असली स्वरूप को जानने की इच्छा ही नहीं होती है। परन्तु जिस क्षण व्यक्ति के अन्दर परम चैतन्य सत्ता को जानने की तीव्रतम इच्छा जाग्रत होती है, उसी क्षण किसी न किसी रूप में गुरु तुम्हें मार्ग दिखाने के लिये मिल जायेंगे।

बहुत से लोग ध्यान का प्रयोग केवल मस्तिष्क को शान्त करने के लिये करते हैं। इसका अधिक महत्व नहीं है क्योंकि मस्तिष्क को शान्त करने के बहुत से तरीके हैं। वास्तविक ध्यान में दैवी आनन्द का अनुभव होता है जो इस संसार के भौतिक पदार्थों व सुखों से नहीं मिल सकता है। इस दैवी आनन्द का अनुभव होने पर अन्य सब सुख तुच्छ मालूम पड़ते हैं। ध्यान बिना प्रयत्न के स्वाभाविक रूप से होना चाहिये। यदि ऐसा नहीं होता है तो इसे केवल इच्छा शक्ति का प्रदर्शन या हिप्नोटिज्म ही कहा जायेगा।

एक वास्तविक साधक अंधविश्वासों से दूर रहता है। उसके लिये कछ भी शुभ या अशुभ नहीं है। शकुन व अपशकुन आदि मनुष्य के अज्ञान की उपज है। हर क्षण शुभ है क्योंकि हर क्षण परमात्मा का है। हर क्षण ईश्वर की याद में बीते। अपने को ईश्वर का माध्यम समझो और उसी की इच्छा पर चलो।

एक सच्चा सूफी इस संसार में रहते हुये भी अपने को शरीर व मस्तिष्क से अलग रखता है 'मस्तिष्क सदैव सूक्ष्म रूप से साधक को परेशान करता रहता है। विरोधाभास यह है कि शरीर व मस्तिष्क की इच्छाओं को त्यागने के बाद भी उनकी यादें मन को हमेशा परेशान करती रहती हैं। इच्छा की स्मृति कहीं ज्यादा खतरनाक है इच्छा की वास्तविक पूर्ति से। एक समर्थ गुरु अपने शिष्य को कुछ इस प्रकार से शिक्षित करता है कि इच्छाओं की स्मृति से भी छुटकारा मिल सके।

सूफी संतों नें इस मार्ग में जल्दी सफलता पाने के लिये तीन बातों पर विशेष जोर दिया है:-

1. सदैव प्रार्थना में लीन रहना चाहिये। हृदय से की गयी प्रार्थना के परिणाम आश्चर्यजनक होते हैं।

2. सदैव ईश्वर (सतनाम) की याद बनी रहनी चाहिये।

3. मानवता की सेवा - यहाँ तक पशु पक्षियों व वनस्पति की भी सेवा करना चाहिये।

सत्य के खोजी को किसी तरफ ध्यान नहीं देना चाहिये। गरीबी, बीमारी, धन दौलत की हानि, सगे सम्बन्धियों द्वारा अपमान आदि की परवाह नहीं करनी चाहिये। ईश कृपा सदैव साधक के साथ रहती है। एक ही समय में ईश्वर और संसार दोनों चीज़ें साथ-साथ नहीं मिल सकती हैं।

एक सांसारिक व्यक्ति की तुलना में एक साधक को बुरे विचारों से ज्यादा खतरा है। जब वह ईश्वरीय शक्ति आने के लिये अपने मस्तिष्क को खाली करता है तो बुरे विचार फौरन उस खाली जगह को भरने की कोशिश करते हैं। इस परेशानी से बचने का एक ही तरीका है कि हर समय अपने गुरु की याद में डूबा रहे या उनमें लय हो जाये। यदि साध्य ने अपने को गुरु में लय कर लिया है तो कोई भी बुराई आप में नहीं प्रवेश कर सकती है। इस संसार में केवल प्रार्थना, ध्यान व सतनाम का जाप ही करने योग्य कार्य हैं। इनके अतिरिक्त अन्य चीजों पर नजर नहीं डालनी चाहिये।

सूफी संतों का यह दृढ़ विश्वास है कि ईश्वर में लय होना (फना-फिल-अल्लाह) तभी सम्भव है जब शिष्य पहले अपने को गुरु में लय करे (फना-फिल-शेख)। गुरु से पहली भेंट के अवसर पर साधक उन्हें कुछ विशेष गुणों वाला व्यक्ति समझता है। आगे चलकर लम्बे समय तक गुरु की सोहबत में रहकर उसे यह समझ में आने लगता है कि केवल गुरु के माध्यम से ही वह आत्म-साक्षात्कार कर सकता है। अब उसके सामने दो हैं - गुरु और ईश्वर। बाद को केवल एक ही रह जायेगा। कोई भी समर्थ गुरु यह नहीं चाहेगा कि शिष्य उसे ही ईश्वर माने। शिष्य के गुरु में लय होने के बाद अगला कदम है ईश्वर में लय होना। अब गुरु फौरन ही उसे परम चैतन्य सत्ता (Supreme Consciousness or Cosmic Soul) में लय होने के लिये तैयार करता है। फना-फिल-शेख से

फना-फिल-अल्लाह में आने में देर नहीं लगती है। परन्तु यदि किसी शिष्य को गुरु में विश्वास नहीं है अथवा उसे ईश्वर की सर्वोच्च सत्ता व उसके अस्तित्व में विश्वास नहीं है तो आत्म साक्षात्कार कतई सम्भव नहीं है।

बहुत से अध्यात्मिक अनुभव ऐसे हैं जो गुरु के शरीर छोड़ने के बाद ही शिष्य की जानकारी में आते हैं। ऐसा पूज्य पिता जी प्रायः अपने शिष्यों से कहा करते थे। ऐसे अनुभव गुरु की मौजूदगी व उनकी सोहबत में सम्भव नहीं हैं। कभी-कभी गुरु अपने शिष्यों को नये अनुभव पाने के लिये अपने से दूर भेज देते थे। शिष्यों द्वारा नासमझी के प्रश्न (जैसे कर्म सिद्धान्त व पुनर्जन्म) पूछने पर पिताजी या तो चुप रह जाते थे या उन पर ध्यान ही नहीं देते थे। वे कहा करते थे कि जब शिष्य चेतना के विकास के एक खास स्तर पर पहुँचता है तो ऐसे प्रश्नों का उत्तर उसे स्वयँ मिल जाता है। कोई शंकाएँ नहीं रह जाती हैं। गुरु कृपा से धीरे-धीरे सत्य के रहस्यों से परदा उठता जाता है।

सूफी संतों नें मनुष्य के अहँ (Ego) को इस मार्ग की सबसे बड़ी बाधा माना है। इसी कारण वह अपने पूर्व अर्जित विश्वासों व दुराग्रहों को छोड़ना नहीं चाहता है। अहँ ही पूर्ण समर्पण नहीं होने देता है। जैसे-जैसे साधक ऊँची स्थितियों की ओर बढ़ता है, अहँ भी सूक्ष्म रूप में उसके साथ बढ़ता जाता है। अहँ को सूक्ष्म रूप में पता लगा पाना भी कठिन है। सूफियों के अनुसार अहँ से छुटकारा पाने का एक ही उपाय है। साधक अपने सारे क्रिया-कलाप, विचार, अच्छाई-बुराई, पाप-पुण्य आदि गुरु के चरणों को समर्पित करता जाये। जब तक साधक में कर्ता भाव रहेगा, अहँ भी साथ रहेगा। मैं और मेरे के ख्याल को दिल से निकाल दो। तुम कुछ हो ही नहीं, तुम्हारी अपनी कोई इच्छा है ही नहीं। तुम केवल गुरु की आज्ञाओं का पालन कर रहे हो। तुम्हारा हर कार्य केवल गुरु कृपा से ही हो रहा है। अहँ को पूरी तरह से तभी नष्ट किया जा सकता है जब साधक अपने को गुरु में लय कर दे। पिताजी प्रायः अपने चाचा (फतेहगढ़ के महात्मा रामचन्द्र जी) व अपने पिताजी (चच्चा जी

महाराज) का उदाहरण इस सम्बन्ध में दिया करते थे जिन्होंने कि कभी भी मैं शब्द का प्रयोग ही नहीं किया। वे हर कार्य को गुरु कृपा का ही फल मानते थे।

सूफी संतों के अनुसार वास्तविक प्रसन्नता का राज स्वीकार करने में है। हमारे साथ जो कुछ भी हो रहा है उसे उसी रूप में बिना किसी शर्त के स्वीकार कर लें। जो जैसा है उसे उसी रूप में स्वीकार करें। यह राजी व रजा का सिद्धान्त है। हर घटना के पीछे ईश्वर की इच्छा है। वही कर्ता है। हम कुछ भी नहीं हैं। यदि हम ईश्वर की मर्जी में राजी हैं तो धन, संपत्ति, गरीबी, दुख आदि कुछ भी हम पर अपना बुरा प्रभाव नहीं डालेंगे। सच्चा साधक इन सब को ईश्वर की ओर से आया हुआ समझकर स्वीकार कर लेगा। इन्हें स्वीकार करने पर न उसे गर्व होगा और न कोई पछतावा। सूफियों की शैली में दुखों से हृदय की पवित्रता लाने में सहायता मिलती है। इसलिये हम उन्हें परमात्मा की रहमत मानते हैं। ईश्वर की मर्जी स्वीकार करने में हम सुख दुख से ऊपर उठ जाते हैं। हमेशा कल के बारे में सोचने का मतलब है ईश्वर में विश्वास की कमी।

इस मार्ग में शिष्य को कुछ भी हासिल नहीं होगा यदि वह हर बात को विवाद का विषय बनाकर तर्क कुतर्क करने लगता है। गुरु में पूर्ण श्रद्धा व आज्ञा पालन अत्यन्त आवश्यक है नहीं तो मस्तिष्क हमेशा विद्रोह के ख्याल में रहेगा। अध्यात्म मार्ग में त्याग जरूरी है। तभी शिष्य अपने को गुरु में लय कर सकेगा। इस मार्ग में बहुत से ऐसे रहस्य हैं जिन्हें गुरु सीधे शिष्य के हृदय में पहुँचाता है। शब्दों में उनका वर्णन नहीं किया जा सकता है। कोई भी व्यक्ति गुरु को शाश्वत सत्य का ज्ञान कराने के लिये विवश नहीं कर सकता है। गुरु शिष्य को सत्य का ज्ञान बतौर तोहफ़े के तब भेंट करता है जब उसकी चेतना का विकास एक निश्चित स्तर तक पहुंच जाता है व वह अन्य प्रकार से भी अपनी पात्रता सिद्ध कर देता है। शिष्य को गुरु के शरीर छोड़ने पर अपनी शिक्षा के लिये उनके उत्तराधिकारी के पास जाने की आवश्यकता नहीं है, यदि उसने अपना आन्तरिक हृदय व पूरा व्यक्तित्व हृदय की पवित्रता द्वारा

परिवर्तित कर लिया है । नहीं तो उसे अपनी शिक्षा पूरी करने के लिये गुरु के उत्तराधिकारी के पास जाना ही होगा।

चौदहवाँ अध्याय
अंतिम पृष्ठ

संक्षेप में सूफी एवं भक्ति मार्गी संतों के अनुसार शून्यता अथवा अस्तित्वहीन स्थिति (State of Nothingness) ही अध्यात्मिक जीवन का सार है। यह चेतना के विकास की वह उच्चतम स्थिति है जहाँ परमात्मा के अस्तित्व के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं बचता। अपनी पहिचान व व्यक्तित्व का अस्तित्व भी खो जाता है। ईश्वर को हम किसी भी नाम से पुकार सकते हैं - विश्व चेतना, परम चैतन्य सत्ता, सर्व व्यापी चेतना, सार्वभौम आत्मा आदि। जिस क्षण गुरु कृपा से हमारा अहँ नष्ट होता है, वह सार्वभौम चेतना हमारे हृदय में प्रवेश करती है और उस चेतना में समा कर हम एक हो जाते हैं। नक्शबंदिया सिलसिले के एक सूफी संत हजरत अब्दुल हसन ख़िरकानी ने इस स्थिति का इस प्रकार वर्णन किया है:-

"O Allah, you are one and I am one in your Oneness."

आत्मा का शाश्वत चेतना में विलीन होना ही मुख्य बात है। 'फूटा कुंभ, जल जलहि समाना' अर्थात घड़ा फूटने पर अंदर का जल महासागर से मिलकर उसी का एक भाग बन जाता है। प्रश्न है कि कैसे यह स्थिति लायी जाय। कैसे आत्मा के ऊपर चढ़े आवरणों को हटाया जाय व कैसे वह परम चैतन्य सत्ता में मिलकर एक हो जायें। विभिन्न देशों में विभिन्न युगों में सन्तों नें इस प्रश्न का उत्तर खोजने का प्रयत्न किया है। सबके परिणाम एक ही जैसे हैं। अपने अहँ को मिटा कर आ जाओ (Leave yourself and come) कबीर साहब फ़रमाते हैं:-

'जो घर छोड़े आपना, चले हमारे साथ' अर्थात वही व्यक्ति इस मार्ग पर मेरे साथ चल सकता है जो परमात्मा के सिवाय संसार के अन्य भौतिक पदार्थों से अपना लगाव छोड़ दे। एक सच्चा अध्यात्मिक व्यक्ति वह होता है जिसने अपने आपको पूरी तरह से ईश्वर की इच्छा पर छोड़ दिया है, जो सदैव अपना सम्पर्क

परमात्मा से बनाये रखता है और जो शाश्वत सत्य की खोज में पूर्ण आत्म साक्षात्कार के अतिरिक्त मार्ग के किसी भी प्रलोभन से समझौता नहीं करता है।

हृदय की पवित्रता के द्वारा परिवर्तन की पूरी प्रक्रिया बड़े दुखों एवं दर्द से भरी हुयी है। कोई भी व्यक्ति अपने अहँ को नष्ट नहीं करना चाहता है और न ही भौतिक पदार्थों के प्रति अपने मोह को त्यागना चाहता है। मेरे पिताजी महात्मा राधामोहन लाल जी कहते थे कि संत बनाने में कुछ भी समय नहीं लगता है। परन्तु कौन सब कुछ त्यागने को तैयार है? तब इस संसार का उसके लिये कोई अस्तित्व नहीं रह जायेगा। उसके पास अपना कुछ भी नहीं बचेगा। यह स्थिति कौन स्वीकार करने को तैयार है? अपना सारा राज्य, सांसारिक दौलत व अपना सिंहासन देने के बाद भी जनक शाश्वत सत्य से काफी दूर थे। ऋषि अष्टावक्र उनके मन व मस्तिष्क का भी समर्पण चाहते थे, ताकि उनकी सोचने की प्रक्रिया भी बन्द हो जावे। जब तक सोचना जारी है, मन में संकल्प-विकल्प उठ रहे हैं, साधक सत्य से कोसों दूर है। इसीलिये समर्थ गुरु का पहला कार्य होता है शिष्य के मस्तिष्क का स्विच आफ कर देना ताकि वह विचार शून्यता की स्थिति में पहुँच सके।

हृदय को पवित्र बनाने की प्रक्रिया के दौरान समर्थ गुरु आपका सामना हृदय के अंधकार से कराते हैं जो कि हृदय रूपी शीशे पर पिछले संस्कारों की धूल की पर्त दर पर्त के रूप में इकट्ठा है। साधक को अपनी पहिचान मिटानी है अर्थात कर्तापन का भाव, जो कि मैं व मेरा के रूप में है, नष्ट करना है। आपके लिये बाहरी संसार का महत्व ना के बराबर हो जायेगा। आप पूरी तरह से शून्य चित्त की स्थिति में पहुँच जायेंगे जहाँ पर आपकी शुद्ध आत्मा के अलावा और कुछ भी नहीं होगा।

चेतना के इस स्तर तक पहुँचने के लिये साधक के लिये कुछ बातें आवश्यक हैं:-

1. हृदय में शाश्वत सत्य को जानने के लिये उत्कट इच्छा हो।

2. एक ऐसे समर्थ गुरु की आवश्यकता है जिसने स्वयं परम चैतन्य सत्ता का साक्षात्कार किया हो और जो तुम्हारे हृदय के अंधकार को दूर कर सके।

3. जो हृदय में प्रेम पैदा करने के साथ-साथ प्रेम को बनाये भी रखे। यही सबसे महत्वपूर्ण है क्योंकि सूफी साधना पद्धति प्रेम पर आधारित है। मुख्य उद्देश्य अद्वैत स्थिति में पहुँचना है। यह स्थिति प्रेम में ही पैदा हो सकती है जहाँ प्रेमी व प्रेमास्पद मिलकर एक हो जाते हैं। द्वैत का प्रश्न ही नहीं उठता।

'प्रेम गली अति साँकरी, जामे दो न समय। शिष्य को गुरु में लय होकर यह अवस्था प्राप्त करनी है। गुरु ही सार्वभौम चेतना अर्थात ईश्वर का प्रतिनिधि है जिसमें व्यक्तिगत चेतना को विलीन करना है। सूफियों के लिये प्रेम ही ईश्वर है और वे प्रेम और बुद्धत्व (Enlightenment) में कोई अन्तर नहीं मानते हैं। महात्मा राधा मोहन लाल जी ने सूफियों के प्रेम को कुछ इस प्रकार समझाया है:-

"..... प्रेम को पाना ही ईश्वर को पाना है। यदि कोई आग के सामने बैठता है तो उसे गरमी महसूस होती है। आत्म-साक्षात्कार करने वाले व्यक्ति इसी आग के समान हैं। साधकों के हृदय में ऐसे गुरु प्रेम की अग्नि जला देते हैं। मनुष्य के हृदय के अन्तरतम भाग में ईश्वर का निवास है। यह सब कुछ महासागर और लहरों के समान है। लहरें गायब हो जाती हैं और फिर प्रकट हो जाती हैं। जब हमें आत्म-साक्षात्कार होता है प्रेम खो जाता है। हम प्रेम को कोई रूप या शक्ल नहीं दे सकते हैं जितनी गहराई में हम जाते हैं यह खो जाता है। फिर प्रेम का प्रकाश शरीर के प्रत्येक अंग से प्रकट हो जाता है।"

तुम अब तक गहरी नींद में ही सो रहे हो। सदगुरु का कार्य तुम्हें जगाना है। किसी ने गौतम बुद्ध से पूछा कि क्या वे ईश्वर हैं या ईश्वर के प्रतिनिधि हैं या फिर वे असाधारण शक्तियों वाले सिद्ध पुरुष हैं। बुद्ध का उत्तर था, "मैं इनमें से कोई नहीं हूँ

। मैं सिर्फ एक जागा हुआ इंसान हूँ। मैं गहरी नींद से जाग चुका हूँ।" जिस क्षण तुम जागोगे, तुम्हारे सामने पहला प्रश्न होगा कि मैं कौन हूँ और मेरे जीवन का उद्देश्य क्या है। इस समय तुम भौतिक सुखों में डूबे हुये हो क्योंकि तुमने अभी तक इससे भी उच्च कोटि के आनन्द का स्वाद नहीं चखा है। वह आनन्द है परमात्मा का प्रेम। महात्मा राधा मोहन लाल जी कहते थे कि तुम कोई उच्च कोटि की वस्तु पा कर संसार को भूल जाते हो। यदि तुम्हारे पास दस रुपये हैं तो उन्हें याद रखोगे। परन्तु यदि तुम्हें दस हजार रुपये मिल जायें तो तुम उन दस रुपयों को भूल जाओगे जो अभी भी तुम्हारे पास हैं। तुम्हें उनका बिल्कुल ध्यान नहीं आवेगा। जिसने ईश्वर प्रेम का आनन्द जान लिया उसे सांसारिक सुखों में कोई रुचि नहीं रह जायेगी।

सूफी सन्त संसार छोड़ने को नहीं कहते हैं। इस सिलसिले के सभी आला बुजुर्ग परिवार के साथ रहते थे व नेक कमाई करते थे। सदैव अपने को किसी न किसी काम से व्यस्त रखते थे। संसार के सारे कार्यों व कर्तव्यों को करते हुए वे निर्लिप्त भाव से जीवन बिताते थे। किसी से उनका लगाव नहीं होता था। संसार में मेहमान बन कर रहो। जब हम किसी का आतिथ्य स्वीकार करते हैं तो उसके सुन्दर घर व उसमें पायी जाने वाली सुख व आनन्द देने वाली सभी वस्तुओं का उपयोग करते हैं। परन्तु विदा लेते समय हमें उसकी सुख समृद्धि की वस्तुओं से कोई मोह नहीं रहता। हाथ जोड़ कर प्रसन्नतापूर्वक वहाँ से विदा लेते हैं। ऐसा ही आचरण हमें इस संसार में रह कर करना चाहिये। संसार में रहकर शान्ति व प्रसन्नता पाने का यही तरीका है।

सूफियों के लिये ध्यान व प्रार्थना ईश्वर के सामने हमेशा हाजिर रहने का एक साधन है। यह अध्यात्म मार्ग में आगे बढ़ाने में भी सहायक होता है। ध्यान का मुख्य उद्देश्य एकाग्र चित्त होना है। यह हमें अनेक से एक पर लाता है। ध्यान से हम अन्तर्मुखी बन कर हृदय की गहराइयों में जाते हैं। यह गुरु को भी याद रखने का एक कारगर तरीका है। ऊँची स्थितियों में ध्यान का उतना महत्व नहीं रहता है

क्योंकि तब तक गुरु हमारे हृदय में बस चुके होते हैं। हर गुरु के यहाँ ध्यान की प्रणाली भिन्न-भिन्न हो सकती है। परन्तु हर प्रकार के ध्यान में ईश्वर के प्रेम में ही डूबना होता है तथा इस प्रक्रिया में अपना अस्तित्व खोना पड़ता है।

कबीर कहते हैं कि ईश्वर के खोजने की प्रक्रिया में मेरा स्वयं का अस्तित्व ही मिट गया। (अब हरि हैं, मैं नाहिं) पानी की बूंद महासागर में मिलने पर महासागर ही बन जाती है। उसका अपना निज का अस्तित्व ही मिट जाता है। गुरु व शिष्य का लय होना भी ऐसा ही है। ऐसा ही तब भी घटित होता है जब व्यक्तिगत चेतना सार्वभौम चेतना में अपने अस्तित्व को मिटा कर विलीन होती है।

सूफी संतों नें उसी ध्यान को सबसे अच्छा ध्यान माना है जहाँ ध्याता (ध्यान करने वाला), ध्येय (जिस पर ध्यान किया जावे), और ध्यान तीनों मिलकर एक हो जावें। यह तभी सम्भव है जब तुम यह ख्याल बाँधो कि तुम नहीं बल्कि गुरु ही तुम्हारी, जगह ध्यान कर रहे हैं। शरीर, मस्तिष्क और आत्मा तुम्हारी नहीं वरन् गुरु की ही है। इस प्रकार जो व्यक्ति ध्यान कर रहा है, वह गुरु है, ध्यान भी गुरु का ही हो रहा है। ध्यान और कुछ नहीं केवल गुरु के प्रेम की एक धार है। इस प्रकार तीनों मिलकर एक हो जाते हैं।

ध्यान करने वाले नये साधकों के लिये कुछ निर्देश दिये जाते हैं:-

1. ध्यान का एक निश्चित समय होना चाहिये। हो सके तो प्रातःकाल व शाम को सोने से पहले ध्यान अवश्य करना चाहिये।

2. जहाँ तक सम्भव हो सके ध्यान के कार्यक्रम में कोई नागा न हो। सकारात्मक परिणाम के लिये वर्षों तक ध्यान करना पड़ता है।

3. कई घंटे तक ध्यान पर नहीं बैठना चाहिये। इसके दुष्परिणाम भी हो सकते हैं। आधे घंटे का ध्यान पर्याप्त है।

4. अश्लील साहित्य पढ़ने या अश्लील दृश्य से बचना चाहिये। खाली समय गुरु की याद में या सत्संगी भाइयों के साथ बिताना चाहिये।

5. सदगुरु से नियमित सम्पर्क बनाये रखना चाहिये।

6. समय-समय पर गुरु को अपनी अध्यात्मिक हालात बतलाते रहना चाहिये। यदि कोई रूकावट है तो गुरु अपने सामने बैठा कर अपनी तवज्जोह से उसे दूर कर देंगे।

7. ध्यान करते समय गुरु की उपस्थिति का एहसास करते रहना चाहिये।

8. ध्यान के बाद तुरन्त नहीं उठना चाहिये। कुछ देर शान्त होकर बैठना चाहिये ताकि ध्यान द्वारा प्राप्त शक्ति जज़्ब हो जाये। उसे बिखरने न दें।

9. ध्यान कर्मकांड या कोई मशीनी प्रक्रिया नहीं है। इसका मुख्य ध्येय अनेक से एक पर आना है। ध्यान साधक को अर्न्तमुखी बनाता है।

10. सामूहिक ध्यान अधिक प्रभावशाली होता है। कहते हैं कि जहाँ पाँच लोग मिल कर ध्यान करते हैं वहाँ गुरु की उपस्थिति व उनकी कृपा का एहसास होता है।

11. गुरु में पूर्ण श्रद्धा व विश्वास होना चाहिये। शंकालु मन से कोई लाभ नहीं होता है।

12. गुरु का आदेश समझकर ध्यान अवश्य करना चाहिये चाहे मन लगे या ना लगे।

13. ध्यान की विधि को बार-बार बदलना या प्रयोग करना केवल समय की बरबादी है।

14. निराकार ईश्वर पर ध्यान नहीं किया जा सकता है। संतों नें चैतन्य गुरु पर ध्यान करने को कहा है। गुरु व शिष्य के बीच प्रेम का सम्बन्ध होने से यह तरीका आसान है।

15. यदि किसी कारण से ध्यान में मन बिल्कुल ही नहीं लग रहा हो तो थोड़े समय के लिये उठ जाना चाहिये। कुछ समय बाद ध्यान फिर शुरू करना चाहिये। यह बात गुरु के संज्ञान में अवश्य लाना चाहिये।

16. बैत होना (दीक्षा लेना) गुरु-शिष्य के सम्बन्ध की एक आवश्यक कड़ी है। बैत के द्वारा ही तुम्हारा इस सिलसिले में दाखिला होता है तथा गुरु अध्यात्मिक विकास का उत्तरदायित्व लेता है। पुरानी विचारधारा के अनुसार शिष्य को बैत करने का सही समय वह है जब उसने मनोमय कोश पार कर लिया हो अर्थात मन पर नियंत्रण करने में सफल हो गया हो। बड़े पैमाने पर सामूहिक दीक्षा देना उचित नहीं है क्योंकि इससे गुरु शिष्य के बीच सम्बन्ध ठीक से नहीं बन पाता है।

17. शिष्य को समय-समय पर आत्म-निरीक्षण भी करते रहना चाहिये ताकि वह जान सके कि उसने किस सीमा तक क्रोध, राग द्वेष, मोह, लालच आदि पर नियंत्रण किया है।

18. इस मार्ग में सेवा व ग़रीबों व जरूरत मंद लोगों की मदद करना भी महत्वपूर्ण है। अपनी कमाई का कुछ भाग इसके लिये अलग कर देना चाहिये। इससे अहँ (Ego) को नष्ट करने में भी सहायता मिलती है।

19. सच्चा शिष्य वही है जिसके जीवन का उद्देश्य हर समय परमात्मा की उपस्थिति में रहना है। इसके लिये सूफी संतों नें कुछ सुझाव दिये हैं:-

1. नजर बर कदम:- शिष्य को अपने हर कदम पर ध्यान रखना चाहिये। एक भी गलत कदम से अध्यात्मिक उन्नति रुक सकती है। सूफी संत नीची निगाह कर चलते थे। यह नम्रता की निशानी थी और चित्त को एकाग्र करने में सहायक होती थी।

2. खिलवत-दर-अंजुमन:- भीड़ भाड़ वाली जगहों पर भी ध्यान (ईश्वर की याद) करने की आदत डालनी चाहिये। एक क्षण भी परमात्मा की मौजूदगी से खाली न जाये।

3. निगाह दस्त:- शिष्य को अपनी आन्तरिक स्थिति पर बराबर नजर रखनी चाहिये। निरन्तर ईश्वर की याद से मन में बुरे विचार नहीं आते। शिष्य को सदैव सावधान रहना चाहिये व हर कार्य होश पूर्वक करना चाहिये।

4. बाज गश्त:- जो हमारा मौलिक उद्देश्य है उसी पर फिर लौट आना। प्रायः अध्यात्मिक यात्रा के दौरान साधक को कुछ चमत्कारिक शक्तियाँ प्राप्त होने लगती हैं। उनमें फँस कर वह मार्ग से भटक जाता है या सांसारिक प्रलोभनों के चक्कर में फिर संसार में वापस चला जाता है। अपने मकसद को भूल जाता है। ऐसे में उसे ईश्वर से प्रार्थना करनी चाहिये कि वह अपने मूल उद्देश्य पर फिर लौट आये। उसका मूल मकसद अपने असली स्वरूप को जानना है।

5. सफर-दर-वतन:- (घर की ओर यात्रा) ईश्वर को सदैव याद रखे। वही उसका गन्तव्य है जिस भंडार से हम आये हैं, एक दिन उसी भंडार में वापस जा कर फिर मिल जाना है।

प्रत्येक साधक इस बात को जानने के लिये इच्छुक रहता है कि आत्म-साक्षात्कार क्या है अथवा एक बुद्धत्व प्राप्त व्यक्ति कैसा होता है। सच्चाई तो

यह है कि इसे शब्दों में बयान नहीं किया जा सकता है। सर्वव्यापी सार्वभौम चेतना ईश्वर से मिलन का केवल अनुभव ही किया जा सकता है। फिर ऐसे व्यक्ति में कुछ परिवर्तन नजर आने लगते हैं। जाग्रत व बुद्धत्व प्राप्त व्यक्ति की उपस्थिति में मन शान्त हो जाता है व सोचने की प्रक्रिया रुक जाती है। वह विचार शून्य सा हो जाता है। वह सांसारिक चिन्ताओं से उसके सामने मुक्त हो जाता है। परम चैतन्य सत्ता की ही अभिव्यक्ति है वह व्यक्ति जिसने शाश्वत सत्य को जान लिया है। यद्यपि वह सब का होता है और किसी का नहीं होता है क्योंकि वह पूरी तरह निर्लिप्त व विरक्त रहता है। उस पर वै वाह्य व आन्तरिक तत्व दुष्प्रभाव नहीं डालते हैं जिनका कि एक साधारण पुरुष शिकार हो जाता है। उसके लिये एक संत या पापी, अमीर व गरीब, विद्वान व मूर्ख, सुन्दर व कुरूप सब एक समान होते हैं। कोई भी दुख उसे हिला नहीं सकता है। कोई भी सफलता में वह गर्व नहीं महसूस करता है। वह स्थितप्रज्ञ अवस्था में रहता है। ऐसे व्यक्ति में ईश्वरीय गुण आ जाते हैं। वह मृत्यु का स्वागत करता है क्योंकि वही परम आनन्द का स्त्रोत है। कबीर साहब कहते हैं:-

जा मरने से जग डरे, मोहि बड़ो आनन्द।
कब मरिहौं, कब पाइहौं पूरन परमानन्द॥

ऐसा व्यक्ति सुख-दुख, जीवन-मृत्यु, मान-अपमान, हानि-लाभ, अमीरी-गरीबी, लोभ, क्रोध, राग-द्वेष, आदि से ऊपर उठ जाता है। वह सदैव दैवी व परम शान्ति में ही रहता है। उसने अपने आपको पूरी तरह ईश्वर की इच्छा पर समर्पित कर दिया है। परमात्मा से मिलन एक प्रकार से मृत्यु है क्योंकि ऐसे व्यक्ति का अपना कोई अस्तित्व ही नहीं रह जाता है। उसके स्थान पर एक नये ही व्यक्ति का जन्म होता है। यद्यपि वह इस संसार में ही रहता है परन्तु अब वह निर्लिप्त होकर जीवन बिताता है। संसार के सभी जड़ व चेतन पदार्थों में वह उस परम चैतन्य सत्ता की उपस्थिति का एहसास करता है। उसका प्रेम सर्वव्यापी होता है।

सत्य यह है कि जब मनुष्य परमात्मा में अपने को विलीन कर देता है तो फिर वह इस मायावी संसार में अधिक समय तक रहना पसंद नहीं करता है। ऐसे शाश्वत सत्य को प्राप्त पुरुष जल्दी ही मृत्यु को वरण कर लेते हैं।

साधकों को अध्यात्मिक अंध विश्वासों से सावधान रहना चाहिये, नहीं तो सदैव के लिये उनका मार्ग 'खोटा हो जायेगा। बहुत से साधकों का मन गुरु की बातों की गलत व्याख्या करा कर उन्हें मार्ग से भटका देता है।

दरअसल यह सब माया का ही खेल है। बुजुर्ग संतों ने कहा कि यदि साधक चाहे तो यही उसका अंतिम जन्म होगा। एक ही जन्म में साधक आत्म साक्षात्कार कर सकता है। साधकों नें इसका मर्म नहीं समझा और यह कहते हुये सुने गये कि भाई अब तो मैंने गुरु कर लिया है, भंडारों में भी शरीक होता हूँ व समय-समय पर गुरु दर्शन भी कर लेता हूँ। बस मुझे अब कुछ नहीं करना है। मैं अब आवागमन के चक्र से इसी जन्म में मुक्त हो जाऊँगा। यही मेरा अंतिम जन्म है। बुजुर्ग संतों की बात की गलत व्याख्या की गई। उन्होंने यह कभी नहीं कहा कि मैं गारंटी लेता हूँ कि यही तुम्हारा अंतिम जन्म है या तुम्हें इसी जन्म में आत्म साक्षात्कार करा ही दूँगा। मैं पहले भी इस बात को लिख चुका हूँ कि यदि शिष्य राजा जनक जैसा हो, जिन्होंने कि अपना राजपाट, खजाना अपना मन व हृदय सब कुछ ऋषि अष्टावक्र 'को समर्पित कर दिया था। अपना अस्तित्व ही मिटा दिया था तब यही अंतिम जन्म हो सकता है व इसी जन्म में साक्षात्कार भी सम्भव है। परन्तु क्या कोई साधक जनक की सीमा तक जा सकता है। कदापि नहीं। करोड़ों लोगों में कोई एक दो शिष्य ही इस श्रेणी में आवेंगे। तुलसीदास जी कहते हैं:-

जनम जनम मुनि जतन कराहीं
अंत राम कहँ आवत नाहीं ॥

इस सिलसिले के संतों नें यह भी ठीक ही कहा कि गुरु कर्ता हैं और शिष्य दृष्टा है। कुछ गुरुजनों नें यह कहा कि भाई मिलते जुलते रहो। यदि तुम ध्यान नहीं कर सकते हो तो कोई हर्ज नहीं, तुम्हारे लिये साधन मैं कर लूँगा। साधकों नें इसका भी गलत अर्थ लगाया कि अब हमें तो कुछ करना ही नहीं है सब कुछ हमारे लिये गुरु ही करेंगे। इन अंधविश्वासों को मानने वाले वर्षों पुराने साधक आज भी कोरे के कोरे ही हैं। आज भी उनके व्यक्तित्व में कोई परिवर्तन नहीं आया। राग द्वेष, क्रोध, लोभ आदि दुर्गुणों से अब भी वे घिरे हैं। आज के साधक में न सत्य को जानने की तीव्र इच्छा है, न गुरु में श्रद्धा है, न गुरुमुख है, न गुरु की आज्ञानुसार साधन करते हैं और चाहते हैं कि गुरु अपनी रूहानी दौलत उन्हें एक दिन में ही दे दें।

ईश्वर पास से पास है और दूर से दूर है। पास से पास उनके लिये है जिन्होंने सेवा, प्रेम, त्याग व समर्पण का मार्ग चुना है। गुरु उन्हीं पर अपनी रूहानी दौलत दिल खोल कर लुटाते हैं जिन्होंने कि अपनी पात्रता सिद्ध कर दी है। शिष्य कैसा हो यह जानने के लिये हमें चच्चा जी महाराज (महात्मा रघुवर दयाल जी) के जीवन की प्रत्येक घटना को बड़े गौर से समझना चाहिये।

अंत में मैं एक कहानी बयान करता हूँ जो मनुष्य के वास्तविक स्वभाव को दर्शाती है।

एक भिखारी एक पेड़ के नीचे रहता था। एक दिन उसकी मृत्यु हो गई। एक साल बाद वह जमीन, जहाँ पर वह रहता था, खेती के लिये खोदी जाने लगी। मज़दूरों नें वहां पर हीरे जवाहरातों का एक विशाल खजाना पाया। आदि शंकराचार्य कहते हैं कि हम सब भी भिखारी की ही तरह हैं। हम भी एक खजाने पर बैठे हैं परन्तु अज्ञानवश हमें उसका पता नहीं है। यह खजाना है प्रेम, प्रसन्नता व आन्तरिक शान्ति का। हमारा अपवित्र मन हमें केवल शरीर की ज़रूरतों तक ही सीमित रखता है। हमने हमेशा आत्मा की ज़रूरतों की उपेक्षा की है। याद रखो कि तुम भिखारी नहीं हो और न ही तुम्हें उसकी तरह जीवन बिताना है।

सदैव अपने सदगुरु को याद रखो। वही प्रकाश का वह स्त्रोत है जो हमारे हृदय के अंधकार को दूर करने की क्षमता रखता है।

मैं अपने गुरु महाराज व बुजुर्ग संतों से प्रार्थना करता हूँ कि वे इस मार्ग पर चलने वाले जिज्ञासुओं को अपनी रहमत से मालामाल कर दें।

ओम् शान्ति

लेखक

पुस्तक 'अध्यात्म मार्ग' के लेखक श्री रवीन्द्र नाथ महात्मा राधा मोहन लाल जी के ज्येष्ठ पुत्र हैं एवम् महान सन्त चच्चा जी महाराज के ज्येष्ठ पौत्र हैं। आपके पिताजी महात्मा राधा मोहन लाल जी, जो कि स्वयं भी एक ख्याति प्राप्त उच्च कोटि के सूफी संत थे, महात्मा रघुबर दयाल जी (चच्चा जी महाराज) के मँझले सुपुत्र थे। आपकी शिष्या इरीना ट्वीडी हैं (Mrs. Irina Tweedie) और लिलियन सिलबर्न (Lilian Silburn) ने अपने गुरु के प्रेम का संदेश यूरोप व अमेरिका में फैला रक्खा है। इस प्रकार संतों के परिवार में जन्म लेने से आप में प्रेम व वीतराग के भाव प्रारम्भ से ही थे। आपको भोगाँव के प्रसिद्ध सूफी संत हजरत क़िबला मौलवी अब्दुल गनी खान साहब ने इस मार्ग में बैत (दीक्षा) किया। आपको 1964 में चच्चा जी महाराज की समाधि पर वार्षिक बसंत भंडारे के अवसर पर पूर्ण अधिकार प्राप्त गुरु पदवी प्रदान की गयी। 1990 में सेवानिवृत्त होने के बाद आप अपना सारा समय इस मार्ग के साधकों के बीच ही बिताते रहे। अब आपके जीवन का मुख्य उद्देश्य गुरु महाराज के संदेश को लोगों तक पहुँचाना, इस मार्ग के प्रति लोगों में जिज्ञासा पैदा करना और उनके हृदय में प्रेम की अग्नि जलाकर जीवन की वास्तविकताओं के प्रति सजग करना है, ताकि समय आने पर वे अपने निज स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर सकें।

प्रकाशक